सिद्धयोग

• संस्थापक-सम्पादक :-
योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सँवाई, आगरा

वर्ष १८

अंक ११

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा, बड़ाई

* पाँच कोश और उनका स्वरूप (विशेष लेख) २
योग योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

* सुख-दुःख ८
श्री डा० हरिशङ्कर शर्मा

* [illegible] १०
श्री कपिलदेव उपाध्याय

* रामचरितमानस : एक आध्यात्मिक ग्रन्थ १३
श्री शिवनारायण

* उपनिषद् १८
महात्मा श्री भगवानदीन

* लोककल्याण के लिए 'मैं' का विसर्जन २०
श्री रामानन्द मिश्र

* चमत्कार का नहीं-साधना का महत्व है २४
श्री दर्शनानन्द

* श्री मुक्तेश्वर का पुनरुत्थान २७
श्री डा० विजयसिंह

* शब्द-सत्य : शब्दातीत सत्य ३३
श्री मकरन्द दवे

* संस्कार पुरातन, तब और अब ३६
श्री केशव उपाध्याय

* पर्व-पुष्प-करंतोयम् ४२

* श्री सद्गुरु वन्दना (कविता) ५५
श्री विष्णुदेव व्यास

* ध्यान-एक जीवन्त अनुभव ५६
श्री विष्णुप्रसाद व्यास

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'
फरवरी १९८६

वार्षिक मूल्य २५ रुपया। इस अङ्क का २ रुपया

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष १८ अङ्क ११	ध्यानं ध्याय विदित परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुखं विजह्नो, मुक्ति माप्नोति सद्यः। तस्मात्पर्यात् बहुविधं योगशास्त्रोपदेशात्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग' ॥	फरवरी १९८६

अहम् इन्द्रो

अहम् इन्द्रो न परा जिग्य इद्धं
धनम् न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन।
सोममिन्मा सुन्वन्त याचता वसु
न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥
ऋक् १०/४८/५

भावार्थ—

मैं इन्द्र हूँ, आत्मा हूँ, मैं कभी नहीं मरूँगा। जो मरता है वह मेरा शरीर है, अग्नि, वायु, मिट्टी, आकाश तथा पानी के मेल से बना है। जब यह मेल बिखर जाता है, तो मैं अपने कर्मानुसार दूसरे शरीर में वास कर लेता हूँ। मुझे मौत का कभी इन्तजार नहीं करना पड़ता। मैं मौत के दायरे से बाहर हूँ। सदा सुख, शोभायत, आनन्द पाने के लिये देव जन मेरी ही भक्ति करते हैं। मैं अमर आत्मा हूँ यह जान लेने के बाद आत्मज्ञानी को कोई दुःख नहीं होता, कोई हानि नहीं होती।

हमारा विशेष लेख—

● योग-योगेश्वर
अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी
महाराज

पांच क्लेश और उनका स्वरूप

समाधिपाद में जो योग के विघ्न अथवा चित्त के विक्षेप कहे गये हैं उनके मूल में अविद्यादि पञ्च क्लेश ही रहते हैं अतः योगाभ्यासियों को इन क्लेशों के त्याग के लिए उनका स्वरूप समझलेना चाहिए यही इस लेख का विषय है, जिसे विस्तार से समझाने का प्रयास पूज्य गुरुदेवजी ने किया है।

सिद्धयोग के पिछले अङ्क में हमने विस्तार से यह समझाने का प्रयास किया था कि मनुष्य का कर्माशय ही दुःख मूलक होता है। अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश नामक पांच क्लेश इसमें समाये रहते हैं और इन्हीं के फलस्वरूप जाति आयु और भोग की प्राप्ति मनुष्य को हुआ करती है। यह भी विस्तार से बता ही दिया है कि इन पांच क्लेशों में अविद्या नामक क्लेश सबसे प्रमुख है, अन्य चारों क्लेशों की उत्पत्ति में अविद्या ही कारण रूप से आगे रहा करती है इसलिये योग-साधकों को इसी के विनाश का प्रयत्न करना चाहिए। इसके विनाश के पश्चात् शेष चारों क्लेशों का उन्मूलन भी कठिन नहीं रह जाता।

अविद्या के उन्मूलन से पहले उसका स्वरूप समझ लेना भी आवश्यक है। भगवान पतञ्जलि ने इस अविद्या के स्वरूप और गुण धर्म का परिचय इन शब्दों में दिया है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्य शुचिसुखा-त्मख्यातिरविद्या।

—साधनपाद ५

अर्थात् अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुःख में सुख और अनात्म में आत्म का ज्ञान अविद्या है।

इसी सूत्र पर भगवान व्यासदेव ने अपने विचार इन शब्दों में प्रकट किये हैं—

अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिः। तद्यथा ध्रुवा पृथ्वी, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः अमृता दिवौकस इति। तथा-ऽशुचौ परमबीभत्से काये, शुचिख्यातिः। उक्तञ्च 'स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निस्यन्दान्निधनादपि। कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः''। इत्यशुचौ शुचिख्यातिर्दृश्यते। नवेयं शशाङ्कलेखाकमनीयेयं

एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययस्तथैवानर्थे चार्थ प्रत्ययो व्याख्यातः । तथा दुःखे सुख-ख्याति वक्ष्यति-परिणामतापसंस्कार-कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्र-म्भित्त्वा निःसृतेव ज्ञायते नीलोत्पल-पत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचना-भ्याञ्जीवलोकमाश्वासयन्ती चेति कस्य केनाभिसम्बन्धः । भवति चैव शुचौ शुचिविपर्यासप्रत्ययः इति । दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति । तत्र सुखख्यातिरविद्या तथा अनात्मन्यात्मख्यातिर्बाह्यप्रकरणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे पुरुषोपकरणे वा मनस्यनात्मन्यात्म-ख्यातिरिति । तथैतदत्रोक्तम् व्यक्तम-व्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दत्यात्मसम्पदं मन्वा-नस्तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्मव्यापदं मन्वानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः इत्येषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेश-सन्तानस्य कर्माशयस्य च सविपाक-स्येति । तस्याश्चामित्रागोष्पदवद्वस्तु सतत्त्वं विज्ञेयम् यथा चामित्रोन् मित्रा-भावो न मित्रमात्रं किन्तु तद्विरुद्धः सपत्नः यथाचागोष्पदं न गोष्पदाभावो न गोष्पदमात्रं किन्तु देश एव ताभ्या-मन्यद्वस्त्वन्तरम्, एवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति ।

यह हम पहले बता चुके हैं कि क्लेशों की मूल भूता अविद्या है । अविद्या अज्ञान का ही एक दूसरा नाम है । यह अज्ञान मनुष्य को भ्रान्ति में डाले रहता है ।

भगवान व्यासदेव ने उदाहरण देकर के अविद्या के स्वरूप को ऊपर समझाया है । यानी सबसे पहले अविद्या का अंग है अनित्य वस्तुओं को नित्य समझना ।

जैसे हम अपने मन में सोचते हैं यह पृथ्वी हमेशा रहेगी । आकाश हमेशा रहेगा, चन्द्रमा और तारागण-हमेशा रहेंगे, देवी देवता हमेशा रहेंगे । इस के अतिरिक्त और सभी सुखभोग-हमारे कायम बने रहेंगे किन्तु यह बात यथार्थ नहीं है । जिस समय सर्वशक्तिमान परमा-त्मा सृष्टि का सृजन करते हैं उस समय महत् तत्व से आकाश-आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी और पृथ्वी से अन्न आदि की उत्पत्ति-होकर प्राणी लोग जीव जन्तु प्रगट होते हैं ।

जब इस सृष्टि का समाप्ति का समय आएगा-उस समय पृथ्वी जल में, जल अग्नि में और अग्नि वायु में वायु आकाश में और आकाश महत् तत्व में विलय हो जायेगा । सृष्टि की उत्पत्ति होती रहती है और उस

की समाप्ति भी होती रहती है। इसी प्रकार से चन्द्रमा और तारागण सृष्टि काल में बन जाते हैं और महाप्रलय के समय सब समाप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार से देवता लोग और उन के लोक भी काल की अवधि में क्यों कि यह सब लोक लोकान्तर ही बनते और बिगड़ते हैं; इसलिए इन को ध्रुव नहीं कहा जा सकता। इसी का नाम अनित्य वस्तुओं को नित्य समझना भी अज्ञान है। यह अविद्या का पहला अंग है और हम सभी की मानस भ्रान्ती है जिससे हम इन न रहने वाली वस्तुओं को भी नित्य समझते रहते हैं। अविद्या का दूसरा अंग है अपवित्र में पवित्रता की अनुभूति। जैसे हमारा शरीर सब प्रकार की गंध से परिपूरित है। इस की उत्पत्ति रज वीर्य आदि से होती है। इस में मल मूत्र त्यागने के स्थान गन्दे हैं। रक्त मांस मज्जा आदि भी गन्दे हैं। वात पित्त कफ आदि का रोग यदि मनुष्य के सामने आजाता है तो वह इसे देखना भी नहीं चाहता। क्योंकि यह सभी वस्तुयें गन्दी ही होती हैं। श्री व्यासदेव जी महाराज ने एक कन्या का उदाहरण देकर के यहां समझाया है कि किसी रूपवती सुन्दर कन्या को देखकर कामुक व्यक्ति अनेक प्रकार की कल्पनाएं अपने मन में करता है। यद्यपि शरीर उसका भी हाड़ व चमड़े का ही है किन्तु कल्पना करने वाला कामुक व्यक्ति उसके रूप का वर्णन करते हुए अपने मुख से कहता है कि अरे देखो भाई यह लड़की तो ऐसी दिखाई देती है जैसे चन्द्रमा को तोड़ करके बन गई हो या अमृत अथवा मधु से बनी हो। किन्तु यह सब बातें भी उसके अपने मन की भ्रान्ति है। उसका शरीर भी अपवित्र हाड़-मांस चमड़े से अपवित्र है और समय आने पर वही इतना बदल जाएगा जिससे उसका देखना भी किसी को पसन्द नहीं आएगा। इसी का नाम अशुचि में शुचि की अनुभूति है।

अविद्या का तीसरा रूप है दुःखों में सुख की अनुभूति। सारा संसार दुःखमय है भगवान पतञ्जलि देव ने—"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः"—अर्थात् संसार में ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो दुःख ग्रस्त न हो। दुःखों का अविद्या की तरह ही चार भागों में बटवारा है जैसे परिणामी दुःख। एक मनुष्य जो भोग भोगता है। भोग काल में वह तात्कालिक सुख का अनुभव करता है किन्तु भोग काल के बाद में उसकी इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं मन में उत्साह नहीं रहता। अंग अंग कांपते हैं, मदाग्नि बढ़ जाती है और वह चाहता है कि मैं किसी प्रकार इन्द्रिय जन्य सुखों में न पड़ूं किन्तु इन्द्रियों का वेग इतना प्रबल है कि

यततोह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः इन्द्रियाणी प्रमाथीनि हरन्ति, प्रसभं मनः।

अर्थात बुद्धिमान् विद्वान योगी लोग अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने का प्रयत्न करते हैं किन्तु उनका वेग, इतना प्रबल है कि बड़े-बड़े विद्वान पुरुषों के मन को भी खींच ले जाता है। भगवान श्री कृष्ण ने स्वयम् अपने मुखारविन्द से यह कथन कहा है:—

येहि संस्पर्शजा भोगा, दुःखयोनय एवते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।

अर्थात् स्पर्श से पैदा होने वाले जितने भी भोग हैं वे सब दुःखों की जड़ हैं और आदि अन्त वाले हैं अर्थात् न रहने वाले हैं। भगवान के इन वाक्यों को जानकर और समझकर के भी मनुष्य इन्द्रियों के द्वारा आकर्षित भोगों को भोगता है और बाद में श्री भर्तृहरि के कथनानुसार "भोगे रोग भयं" की उक्ति को चरितार्थ करता है। भोगानुरक्त व्यक्ति अपने शरीर में नाना प्रकार के रोगों को पैदा कर लेता है। उसके आमाशय, अन्नाशय, मलाशय, मूत्राशय, रक्ताशय, वीर्याशय आदि षडाशय पूरे-पूरे दूषित हो जाते हैं और भोग के परिणाम स्वरूप अलसर कैंसर आदि जहरीले रोग पैदा हो जाते हैं जो अवश्य ही मनुष्य शरीर को प्राण घातक बनकर ही रहते हैं। इसी का नाम परिणाम दुःखता है।

दूसरा दुःख तापज दुःख है। तापज दुःख का अर्थ है मनुष्य का कर्माशय राग द्वेष से परिपूरित रहता है। मनुष्य किसी व्यक्ति के प्रति राग रखता है। वह चाहता है अमुक व्यक्ति मेरा रहे मेरी बात को माने, वह किसी से न बोले किसी के पास न बैठे, किन्तु यह उसका रागीभूत व्यक्ति यदि ऐसा नहीं करता है तो उसके चाहने वाले उस व्यक्ति को घोरतम मानस ताप होता है और वह चाहता है कि इससे तो अच्छा यह है कि मैं मौत के मुख में चला जाऊँ। इसी प्रकार से अपने मन से जिस व्यक्ति से वह द्वेष करता है और जिससे वह द्वेष करता है वह सुख सम्पत्ति वाला है और उत्तरोत्तर उसकी उन्नति होती रहती है तो द्वेष करने वाला व्यक्ति अपने ही मानस ताप को भोगता रहता है कि मैं इसका कुछ भी न कर सका। इसी को तापज दुःख कहते हैं।

तीसरी प्रकार का दुःख संस्कार जन्य दुःख कहलाता है। जिस के मन में दुःख के संस्कार बैठ गए तो उसको दुःखित हृदय याद आते रहते हैं तो यह व्यक्ति सब दिन दुःखता ही रहता है। इसी का नाम संस्कार दुःखता है इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक आदि त्रिविध दुःखों को मनुष्य भोगता है और दुःखी रहता है। इनके अतिरिक्त गुणवृत्ति विरोध का पाँचवाँ दुःख एक ऐसा दुःख है जो सारे संसार में सामान्य रूपेण व्याप्त रहता है। पिता पुत्र का स्वभाव नहीं मिलता, पति पत्नी का स्वभाव नहीं मिलता यह है गुण वृत्तिविरोध। गुरु शिष्यों का परस्पर स्वभाव नहीं मिलता—दो मित्रों का स्वभाव नहीं मिलता यह सब गुण वृत्तिविरोध प्राणी मात्र में व्याप्त रहता है। इस प्रकार से यह संसार सारा दुःखमय है। किन्तु मनुष्य अपनी मन्द बुद्धि के कारण इसमें सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार दुःखों में सुखों का अनुभव करना यह अविद्या का तीसरा अङ्ग है।

अविद्या का चौथा अंग है अनात्म वस्तुओं को आत्मा समझना। उदाहरण के तौर पर हम लोग रागानुबद्ध होकर किसी के शरीर से लिपट-लिपटकर कहते हैं कि तू मेरी आत्मा है किसी के बने हुए एक सुन्दर महल को देखकर एक व्यक्ति कहता है कि अरे वाह ! वाह ! यह महल नहीं यह तो मेरी आत्मा है। वस्तुतः वह महल न तो उस की आत्मा है न प्राण है। इसी का नाम अनात्म वस्तुओं में आत्मा को देखना है। यही अविद्या नाम का पंचक्लेशों में प्रथम क्लेश है। अन्य अवशेष क्लेशों का मूल यही अविद्या है।

इसके बाद दूसरा क्लेश अस्मिता है।

अस्मिता क्लेश—अस्मिता जड़ और चेतन की गांठ को कहते हैं। इसी का नाम हमारे शास्त्रों में हृदय ग्रन्थि अथवा जड़ और चेतन की गांठ कहा गया है। योग-दर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव ने अस्मिता का लक्षण इस प्रकार से लिखा है—

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ।

अर्थात् दृग शक्ति जीवात्मा और दर्शन शक्ति बुद्धि और पुरुष का मेल हो जाने पर यह दोनों एक ही स्वरूप के लगने लगते हैं। यही अस्मिता नाम का क्लेश है। वृद्धि भाष्य भगवान व्यासदेव के शब्दों में—

पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्यते; भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते स्वरूपप्रतिलम्भे तु तयोः कैवल्यमेव भवति कुतो भोग इति, तथा चोक्तं "बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्याऽऽदिभिर्विभक्तम्—अपश्यन् कुर्यात्तत्रात्मबुद्धिं मोहेन" इति।

अर्थात् पुरुष दृग शक्ति और बुद्धि दर्शन शक्ति है। यह दोनों जब एक रूप हो जाते हैं तभी उसको अस्मिता नाम का क्लेश होजाता है। पुरुष के बारे में हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है कि—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयम् सनातनः। नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः। अच्छेद्योऽयम् अक्लेद्योऽयम्-अविकार्योऽयमुच्यते।

अर्थात् आत्मा का स्वरूप अछेद्य अभेद्य अक्लेद्य एवं अविकारी है। यह शस्त्रों से काटा नहीं जा सकता। आग से जलाया नहीं जा सकता। हवा से सुखाया नहीं जा सकता तथा सर्वदा अचल एवं स्थिर है। आत्मा के इस स्वरूप के अनुसार आत्मा एक निर्मल

ज्योति है। निर्गुण है। इसमें कोई किसी प्रकार के सुख-दुःख नहीं हैं किन्तु आत्मा के सामने जब जड़ बुद्धि आयी तो वह आत्मा के प्रकाश को प्राप्त करके चेतन हो उठी। बुद्धि के चेतन हो जाने के बाद बुद्धि ने अपना गुणात्मक रूप आत्मा को दिखलाया तो आत्मा प्रत्यानुपश्य बन गया। दूसरे शब्दों में बौद्धेय ज्ञान को देखने से बुद्धि जीवात्मा हो गया। अब जितने भी हम सुख-दुःख आदि ज्ञानों को अनुभव करते हैं वह सब के सब बुद्धि के ज्ञान हैं आत्मा के नहीं। इसी का नाम जड़ और चेतन की गाठ है। उपनिषदों में इस को जड़ और चेतन की गांठ कहा गया है। यही अस्मिता नाम का क्लेश है, जिसके कारण जीवात्मा जन्म और मरण के चक्कर में पड़ा रहता है।

अब तीसरा क्लेश राग है राग का अर्थ है—

सुखानुशयी रागः

अर्थात् जिसमें सुख का अनुसरण हो मन सुख का अनुभव करे वह राग कहलाता है।

सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वायो गर्द्धस्तृष्णा लोभः स राग इति।

अर्थात् सुख को समझने वाला व्यक्ति सुख को याद करता हुआ उस सुख को प्राप्त करने के लिए जिन-जिन साधनों का अवलम्ब लेता है और उसके प्राप्त करने का लालच मन में बना रहता है, वही राग नाम का क्लेश है। यह राग नामक क्लेश सुखानुभूति से होता है किन्तु अन्तिम परिणाम दुःख ही होता है। जिस वस्तु में हमारी तृष्णा अधिक हुई अर्थात् राग रहा। उस का न मिलना या मिलने पर भी इच्छानुरूप बर्ताव का न होना यह क्लेश का ही कारण है। इस लिए सुख का अनुसरण करने वाला राग क्लेश ही है।

इसके बाद चौथा क्लेश द्वेष है—द्वेष का लक्षण भी भगवान पतंजलि देव ठीक इसी तरह बतला रहे हैं:—

दुःखानुशयी द्वेषः। दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिरोधो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेषः इति।

अर्थात् दुःख को समझने वाला व्यक्ति उस दुःख को हटाने के लिए जो भी प्रयत्न करता है—उस प्रयत्न के पूरा न होने पर अपने प्रतिद्वन्द्वी के प्रति जो भी क्रोध मन में रहता है या उसके प्रति जो जिघांसा हनन करने वाली वृत्ति बनी रहती है। इस का नाम द्वेष नामक क्लेश है। जो मनुष्य के जन्म और मरण का कारण बना रहता है।

अब पांचवां क्लेश अभिनिवेश है—जिसका लक्षण भगवान पतंजलिदेव ने इस प्रकार लिखा है—

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढो-ऽभिनिवेशः—

अर्थात् जो अपनी समान गति से चलता है जिसका प्रभाव पूर्ण विद्वानों से लेकर मूर्खों तक सामान्य रूप से रहता है इस क्लेश का नाम अभिनिवेश क्लेश है—

सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति मा न भूवं भूयासमिति, न चाननुभूतमरण धर्मकस्यैषा भवत्या-त्माशीः एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते, स चायमभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्य-क्षानुमानागमैरसम्भावितो मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः पूर्वजन्मानुभूत मरण-दुःखमनुमापयति, यथाचायमत्यन्तमूढेषु दृश्यन्ते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि (१)= विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः, कस्मात् समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरण-दुःखानुभवादियं वासनेति ।

अर्थात् सभी प्राणियों के मन में यह भावना बनी रहती है कि हमारे साथ दुबारा ऐसा न हो। चींटी से लेकर बड़े-बड़े विद्वानों तक मौत का भय सभी के मन में बना रहा करता है। एक छोटा बच्चा जो अभी नया-नया पैदा हुआ है। और थोड़ी बहुत खाने-पीने की चेतना का ज्ञान उसके मन में पैदा हो गया है। वह रोता है, चीखता है, और मचलता है। दूसरा कोई व्यक्ति हाथ का पत्थर उठा करके उसको डराता है और कहता है चुप हो जा नहीं तो मैं तेरे को मार दूंगा। और वह उसके डराने से तत्काल चुप हो जाता है और डर जाता है। और डर कर वह समझ लेता है कि यह कहीं मेरे को मार न दे। इसका अर्थ यह हुआ कि मरने में भी दुःख होता है। यह बहुत बड़ा दुःख है और इसका अनुभव उसके मन में है। यह मरण भय तो शास्त्र पुनर्जन्म का भी एक बहुत बड़ा प्रमाण है। जन्म लेने पर उस नए-नए बच्चे को मरण भय का ज्ञान कहां से आया। यह तो उसके जन्म-जन्मान्तर में होने वाले मरणों की अनुभूति है जो उसके सामने खड़ी है। यह मरण भय बड़े-बड़े विद्वानों से लेकर साधारण मूर्ख कीट पतंगादि में भी सामान्य रूप से व्याप्त रहता है। इसी को अभिनिवेश नाम का क्लेश कहते हैं यह अज्ञान ग्रन्थि भी जीवात्मा के साथ जन्म-जन्मान्तरों से लगी है। इस लेख में जीवात्मा के साथ जन्म-जन्मान्तरों के लगे हुए पांचों क्लेशों का रूप भली प्रकार से स्पष्टीकरण के साथ समझा दिया गया है।

अतः इन क्लेशों से बचने का प्रयत्न करना प्रत्येक योग-साधक का प्रमुख कर्त्तव्य होना चाहिए।

सुख—दुख

ले० स्व० पं० हरिशङ्कर शर्मा

कर-कर तुम सुख की याद व्यर्थ रोते हो,
भौतिक भोगों पर क्यों गति-मति खोते हो।
निज कर्मों पर अधिकार तुम्हें रखना है,
कर्मानुसार ही निश्चित फल चखना है।
यह कर्मवाद का स्रोत सदैव बहेगा—
सुख नहीं रहा तो दुख भी नहीं रहेगा।
जीवन में सुख-दुख का समान डेरा है,
यों हर्ष-विषादों ने यह जग घेरा है।
अज्ञानी व्याकुल होते घबराते हैं,
ज्ञानी जन कष्टों में भी सुख पाते हैं।
है वीर वही जो द्वन्द्व सहर्ष सहेगा—
सुख नहीं रहा तो दुख भी नहीं रहेगा।

व्याकुल होने से कष्ट न कट सकता है,
रोने-धोने से नेक न घट सकता है।
जो भोग—भाग्य है, उससे कौन बचा है,
यह तो निज कर्मों ने ही स्वयम् रचा है।
क्यों व्यथित हो रहे जग कायर समझेगा—
सुख नहीं रहा तो दुख भी नहीं रहेगा।
कष्टों का स्वागत करो कसौटी मानो,
दृढ़ता-सहिष्णुता का महत्त्व पहचानो।
तप—त्याग साधना—संकट में मुसकाना,
दुख-सुख दोनों में समता भाव दिखाना।
है कौन न जो इस गति को धन्य कहेगा—
सुख नहीं रहा तो दुख भी नहीं रहेगा।

'किंकर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्रमोहिता'

❀ श्री कपिलदेव उपाध्याय बी० एस० सी०

अकर्म, कर्म और विकर्म का स्वरूप हमें अच्छी तरह समझना चाहिये क्योंकि 'गहना कर्मणोगतिः' के अनुसार इसमें बुद्धिमान मनुष्य भी भ्रम में पड़ जाते हैं इसलिये भगवान श्रीकृष्ण ने इनके भेदों को ठीक से समझने के लिये कहा है। संसार में प्रवृत्ति और निवृत्ति दो मार्ग हैं। ये दोनों मार्ग एक दूसरे के विपरीत हैं। प्रवृत्ति मार्ग में जो कर्म है निवृत्ति मार्ग में वह विकर्म है और प्रवृत्ति मार्ग में जो विकर्म है वह निवृत्ति मार्ग में कर्म है। मैं योग की दृष्टि भंगी से ही कर्म और विकर्म की व्याख्या प्रभु-चरणों की कृपा से करने आ रहा हूँ। गीता मुख्यतः एक योग शास्त्र है। कर्म के बारे में भगवान ने कहा है:

"भूत भावोद्भवकरः
विसर्गः कर्म संज्ञितम्।"

भूत का अर्थ होता है जीव, भाव का अर्थ होता है अवस्था। अतः भूतभाव का अर्थ हुआ जीवावस्था अर्थात् चैतन्य शक्ति का जीवावस्था प्राप्ति का स्वरूप। उद्भव का संधि विच्छेद करने से होता है उद्+भव उद् का अर्थ होता है ऊपर। भव का अर्थ है स्थिति। अतः भूत भावोद्भवकरः का अर्थ हुआ जीव की ऊर्ध्व अवस्था में स्थिति। विसर्ग का अर्थ होता है त्याग करना अर्थात् प्राणवायु का त्याग। इसलिए संपूर्ण वाक्य का एक साथ अर्थ हुआ जो त्याग रूप क्रिया (श्वास-प्रश्वास) जीवात्मा को, ऊपर स्थित अर्थात् आज्ञा चक्र में स्थित करे वह त्याग रूप क्रिया ही कर्म कहलाती है। प्राणवायु की रेचन और पूरक क्रिया ही जो हमें सद्गुरुदेव से दीक्षा रूप में मिली है, वही असल में कर्म है क्योंकि इसके द्वारा ही जीव शिव भाव को प्राप्त होता है। वैसे जीव और शिव में एक गणितीय सूत्र भी है जो इस प्रकार है:—

शिव + माया = जीव (विकर्म)

जीव + माया = शिव (कर्म)

इसलिये कर्म का सूत्र हुआ—वे सारी चेष्टायें जिनके परिणाम स्वरूप जीव माया का त्याग करके शिव भाव को ग्रहण कर सके।

हमारी इन्द्रियाँ जड़ हैं, उसमें किसी प्रकार के संग्रह की गुंजाइश नहीं है, क्योंकि जबतक इनके साथ मन का योग नहीं होता तब तक इनके द्वारा कुछ भी कर्म नहीं बन पड़ता। अतः किसी प्रकार की क्रिया द्वारा अगर मन को इन्द्रियों से हटाया जाय तो हमारी इन्द्रियों से कर्म नहीं बन पड़ेंगे। पुनः 'मन मनोलीयते

तत्र प्राणोलीयते, यत्र प्राणोलीयते तत्र मनोलीयते' के अनुसार अगर तुम अपने मन को प्राणवायु के आवागमन के साथ युक्त कर दें तो मन इन्द्रियों का साथ छोड़ देता है और अगर इस वायु के प्रवाह को किसी साधन द्वारा लय कर दिया जाय तो मन का भी लय हो जाता है। अतः कर्म का स्वरूप स्पष्ट रूप से प्रणायाम या अन्य क्रियायें जिसके द्वारा जीव-शिव भाव को प्राप्त होता है, हुआ।

पुनः विकर्म=वि+कर्म। वि का अर्थ होता है विपरीत और कर्म का अर्थ तो पीछे आ ही चुका है। अतः पहले समीकरण के अनुसार जिससे शिव जीव भाव को प्राप्त होते हैं उसे ही विकर्म कहा जाता है। जब विषय भोग में हमारी प्रवृत्ति रहती है तो उस विषय के भोगने से ही उस भोग के बीज रूप कर्म हमारे मन में प्रवेश करते हैं तथा संस्कारों का निर्माण करते हैं जो जीव के बन्धन का कारण हुआ करता है।

जब प्राण-क्रिया या साधन करते-करते प्राणवायु क्षीण हो जाता है तो मन भी क्षीण हो जाता है अर्थात् मन अपने कारण चिदानन्द में लय होने की तैयारी में होता है। उस समय इस दुर्बल प्राण या मन से कुछ भी कर्म या विकर्म नहीं बन पड़ता क्योंकि मन के अपनी आदि सत्ता में लय होने पर इन्द्रियों द्वारा जो कुछ भी क्रिया होती है वह अकर्म ही कहलाती है। इसी लिये शास्त्र कहता है कि "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो" क्योंकि जिस कर्म में हमारा मन हो लिप्त नहीं है उसके भले या बुरे फल से हमारे संस्कारों का निर्माण नहीं होता। इस मन को ही लेकर सब कुछ है। आप शिव-मन्दिर में बैठे हैं पर आपका मन दुकानदारी कर रहा है इसी प्रकार दुकान पर बैठकर भी शिवत्व प्राप्त किया जा सकता है।

इसीलिये कहा गया है 'गहना कर्मणोगति।' क्योंकि ऊपरसे दिखाई पड़ने वाले किसी के कर्म कैसे हैं,देखकर ही अन्दाज नहीं लगाया जा सकता। क्योंकि उस कर्म के साथ उसके मन का क्या सम्बन्ध है यह समझ पाना सर्वसाधारण का काम नहीं है। फिर महापुरुषों के क्रिया कलापके बारे में तो हम जैसे गृहस्थ लोगों का कोई राय देना या कायम करना बिल्कुल ही गलत रहेगा। कर्म तथा अकर्म के बारे में श्री गुरुदेव के मुख से सुनी हुई एक कहानी याद पड़ती है। एक बार दुर्वासा ऋषि यमुना के उस पार आये थे। गोपियों की इच्छा हुई कि उनके दर्शन किये जांय पर यमुना में जल की अधिकता से उन्हें कुछ उपाय नहीं सूझ रहा था। वे श्रीकृष्णदेव के पास पहुँची तथा उनसे कोई उपाय बताने का आग्रह किया। श्रीकृष्ण बोले— तुम लोग यमुना से जाकर बोलो कि अगर दुर्वासा ऋषि दूर्वा के अतिरिक्त कुछ भी भोजन नहीं करते तो तुम सूख जाओ और

यमुना के सूख जाने पर तुम उस पार चली आना। उन्होंने ऐसा ही किया उनके सूख जाने की बात बोलते ही यमुना सूख गई और उन्होंने उस पार पहुँचकर दुर्वासा का दर्शन किया तथा साथ में लाये हुये समस्त पकवानों को ऋषि के सामने रख दिया, वे समस्त ही खा गये। गोपियां सब देखती ही रह गई। उन्होंने ऋषि से वापस आने का उपाय पूछा—तो ऋषि बोले—तुम यमुना से कहना अगर श्रीकृष्ण सचमुच में ही अच्युत हैं तो तुम सूख जाओ ताकि हम सब उस पार चले जावें। तदनुसार उनके इतना बोलते ही यमुना सूख गई और वे घर वापस आ गई। घर आकर वे बहुत ही चिन्ता में पड़ गई। सारे मालपुए और मोहन भोग तो खा जाने वाले दुर्वासा दूर्वा ही खाते हैं और सोलह हजार एक सौ आठ रानियों को रखकर भी श्रीकृष्ण अच्युत हैं? यहाँ दोनों ही झूठे हैं। पर यमुना ने ऐसा क्यों किया तब गोपियां श्रीकृष्ण के पास आई। श्रीकृष्ण ने उन्हें कर्म और विकर्म का भेद बताया और उनकी जिज्ञासा को शान्त किया।

❀ विषाद ❀

विषाद जागरण का द्वार खोल देता है। सद्गुरु विषाद के समय जीवन को उत्तम दिशा दे देता है। विषाद मनुष्य के अन्तर्मन में तूफान उठाकर उसे नई राह खोजने के लिये विवश कर देता है तथा सत्य के द्वार तक पहुँचाने वाला वह योग बन जाता है। विषाद से अनासक्ति का प्रारम्भ हो जाता है, जो अन्त में प्रसाद योग अर्थात गहरी प्रसन्नता अथवा अविचल प्रसन्नता बन जाता है। अर्जुन के 'विषाद योग' ने उसे श्रीकृष्ण की शरण में भेज दिया उन्होंने कर्म, ज्ञान और भक्ति की त्रिवेणी बहा कर उसके जीवन को रसपूर्ण बना दिया और उसे कृतार्थ कर दिया।

महापुरुषों के जीवन में आये विषाद भी शुभ होते हैं जो उनके जीवन में परिवर्तन लाकर एक नयी दिशा दे देते हैं। उन के लिये विषाद भी वरदान बन जाता है। सद्गुरु की कृपा से अशुभ में शुभ का उदय हो जाता है, जैसे काले बादल में सूर्य की किरण का स्पर्श होने से एक स्वर्णिम रेखा उदित होकर उसे चमका देती है। —श्री शिवानन्द

× × × × ×

कबिरा सब जग निर्धना धनवंता नहिं कोय।
धनवंता सोइ जानिये जाके 'राम नाम' धन होय॥

—कबीरदास

रामचरितमानस : एक आध्यात्मिक ग्रन्थ

❀ श्री शिवनारायण

सूर्पनखा प्रसङ्ग

रामचरित मानस-राम की कथा है। राम की कथा-आदि कवि महर्षि वाल्मीकी की रचना है, एक उदात्त चरित काव्य (महाकाव्य) के रूप में हम वाल्मीकीय-रामायण को पाते हैं। अनेक विक्षेपों के पश्चात् ही वर्तमान रामायण हमें प्राप्त होती है-वाल्मीकि की इस महान कृति की प्रसिद्धि देखकर अनेक विद्वानों ने कई रामायणों की, रामकथाओं की रचना की, जिनके घटना-क्रमों का आदि रामायण के साथ साम्य नहीं है।

तुलसी ने सम्वत् की सत्रहवीं शताब्दी में रामचरित मानस की रचना की, और स्पष्ट किया कि उनके रामचरित की कथा गरिमा किसी अन्य ग्रन्थ घटना पर आश्रित नहीं है, नानापुराण निगम, आगम और कुछ इधर-उधर से लेकर की गई है किन्तु ग्रन्थावलोकन से इस परिणाम पर सहज ही पहुँचा जा सकता है कि रामचरित मानस का बहुलांश केवल अध्यात्म रामायण का ही रूपान्तर है, कुछ पुराण कथाएं-पौराणिक भाग है शेष नीति, राजनीति, और समाजनीति है, रामायण के सभी पात्र भी शाप और वरदान से प्रेरित तथा अभिभूत है। उन पर औपनिषदिक और ब्राह्मण-कथाओं की पालिश चढ़ाई हुई है, 'सभी आध्यात्मिक पात्र-आध्यात्मिक प्रतीक हैं।' यदि प्रक्षेपों को निकालकर रामायण का मनन किया जाय तो वर्णित सभी प्रसङ्ग सर्वाङ्ग सुन्दर जीवन निर्माण करने वाले हैं।

भगवान राम—परमात्मा-परमेश्वर के प्रतीक है।

भगवती सीता—प्रकृति स्वरूप जगत्-जननी सृष्टिकर्त्री है।

कुमार लक्ष्मण—आत्मा और परमात्मा के तेज के प्रतीक हैं।

हनुमान वायु पुत्र—प्रकृति के रजस गुण के क्रिया प्रतीक हैं सेवा प्रभु का प्रभु है।

लङ्केश रावण—मानव में व्याप्त प्रकृति के रजस और तमस गुणों का प्रतिनिधि, तमस गुण के आधिक्य वाला, पाँच विषय और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के दस मुख वाला प्रतीक है। प्रकृति में मानवाकृति में एक से अधिक का विधान नहीं है साथ ही प्रकृति अपने नियम पर कठोर नियन्त्रण रखता है।

तामस तनु कछु साधन नाहीं।
प्रीति न पद सरोज मन माहीं॥
—रावण राम० च० मा०]

अहम्, अहंकार, प्रमाद, कामनाओं से प्रेरित कदाचित पात्र प्रभु की प्रकृति को वश में कर स्वेच्छा-पूर्वक वर्तमान वैज्ञानिकों की भांति चलाने वाला संहारक शिव स्वरूप का अनार्य उपासक।

मन्दोदरी—रावण की स्त्री सात्विक प्रेरणात्मक जागरण का प्रतीक।

दशरथ—पांच विषय तथा ज्ञानेन्द्रियों वाले शरीर रूपी रथ पर आरूढ़ एक ऐसा प्रतीक जिसमें कामना और अदूरदर्शिता है। कठोपनिषद के अनुसार शरीर रथ ही है।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु।

जिसमें इन्द्रियाँ और उसके विषयों के घोड़े जुते हैं। मन सारथि द्वारा यह रथ प्रचालित है।

कौशल्या—एक सात्विक गुण प्रेरित-शान्ति प्रकाश और सुशीलता की प्रतीक।

कैकेयी—एक रजस गुण प्रेरित, तेजस्विनी उग्र, कामाच्छादिता, रजोगुण की जो रचना करने वाला है उसका सक्रिय प्रतिनिधि या प्रतीक है।

सुमित्रा—एक तमसगुण प्रेरित किन्तु सतोगुण के आधिक्य वाली प्रकृति की प्रतीक निष्पक्ष Nuetral और शान्त निष्क्रिय स्त्रोपात्र।

भरत कुमार—प्रकृति के तीन अहंकारों में से, सात्विक अहंकार के उदात्त प्रतीक।

लक्ष्मण—प्रकृति के सक्रिय रजोगुण का प्रतीक, सक्रिय रहने वाला पात्र।

शत्रुघ्न—जो कभी शान्त न रहकर उग्रता में जीता है। शान्त तमस अहंकार का निष्पक्ष प्रतिनिधि।

अयोध्या—यह विश्व ब्रह्माण्ड जो सर्वदा अपराजित एक अयोध्या है।

जनक राजा—एक सूक्ष्म कर्म जो सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राओं के संघटन से होता है स्थूल नहीं अतिसूक्ष्म है अतः विदेह है।

जनकपुरी—एक ऐसा आधार जहाँ जन्म है, मरण है, कर्म है, कामना है, बन्धन है, मुक्ति है ऐसी शक्तियों की प्रतीक है।

स दाधार पृथ्वीम् द्यामुतेमां —वेदवाणी]

शेष पात्र—कथा-गाथ हैं। कहानी के प्रवाह को यथावत् रखते हैं और अपने वरदान और शाप से उद्भूत गरिमा को बनाये हुए उसे रोचकता से समाप्ति तक ले जाते हैं।

उपरोक्त कथा का एक प्रसङ्ग पञ्चवटी में सूर्पनखा है जिसके मूल्य निम्न हैं। जिनको मनन करने पर इस परिणाम पर पहुँचना सरल हो जाता है कि रामकथा कोई घटना नहीं-एक आध्यात्मिक काव्यात्मक रूपक है।

काव्यात्मक अध्यात्मवाद होने में कारण प्रथम—भारत का प्राचीनतम साहित्य वेद, वेदाङ्ग, शास्त्र, दर्शन, ब्राह्मण, स्मृति, आयुर्वेद, ज्योतिष, कल्प उपनिषद, प्रायः जितना संस्कृत साहित्य है सभी की कवितामयी रचना है। छन्दभिज्ञ हो सकते हैं। कुछ

दर्शन और व्याकरण सूत्रग्रन्थ हैं शेष सभी कवितामय हैं और उनका उद्देश्य अध्यात्म की स्थापना है। आर्षकाल के पश्चात् ईसा की पूर्व तीन चार शताब्दियों से लेकर १०-१२वीं शताब्दी तक की अन्तिम रचना श्रीमद् भागवत् पुराण है जो भक्तिकाल १००० १२०० ईसा० के मध्य लिखा गया, भी काव्यमय है इससे पूर्व के ग्रन्थों में कादम्बरी गद्य ग्रन्थ देखने को मिला है उसका भी दृष्टिकोण अध्यात्म की स्थापना ही है। अतः सभी की अध्यात्म स्थापना आख्यानों तथा प्रतीकों में है, उदाहरण के लिए ऋग्वेद का वृत्तासुर संग्राम जिसे श्रीमद् भागवत् पुराण ने स्थूल और एक घटना के रूप में प्रस्तुत किया है। अतः यह सम्भव नहीं कि वाल्मीकि रामायण ने इस सीमा का अतिक्रमण किया हो और फिर यह भी असम्भव है कि तुलसी का 'रामचरित मानस' जिसकी रचना पूर्व रचित संस्कृत की राम-कथाओं पर ही आधारित है इतना ही नहीं अपितु बहुलांशमें संस्कृत का अध्यात्म रामायण का मात्र हिन्दी छन्दोबद्ध कवितामय रूपान्तर है।

दूसरा—उपरोक्त सम्बन्धित कारणों से स्पष्ट है कि रामचरित मानस अथवा उससे पूर्व रचित राम साहित्य (संस्कृत साहित्य) किसी घटना पर आधारित न होकर आध्यात्मिक स्थापना के लिए आध्यात्मिक प्रतीकात्मक रूपक है। यह इसलिए और अधिक सम्भव है कि भारतीय संस्कृति साहित्य के मनीषी विचारक ऋषियों का, विद्वानों, आचार्यों का, महात्माओं का यहां तक कि ईसा की छठी-सातवीं शताब्दियों के काल में आचार्य शङ्कर, माधवाचार्य आदि सभी का दृष्टिकोण मानव के त्रिविध तापों अर्थात् दुखों का समूलनाश करना और मुक्त करना रहा। सीता-राम की भगवान और उनकी शक्ति तथा प्रकृति की पूजा मात्र, जैसा कि पुरातत्वविद् कहते हैं गत २०० वर्षों से प्रकाश में आई है, इसलिए किसी भी पुरातत्वविद द्वारा पुरातत्व और पुराकाल में महत्व के स्थानों के खनन में कहीं किन्हीं मूर्ति आदिके प्रमाणराम सम्बन्धी चौ-ढाई हजार वर्षों से पूर्व के नहीं पाये गये हैं। जब विष्णु देवी, यक्ष आदि की पूजा के प्राचीनतम प्रमाण प्रायः १९०० से १५०० वर्षों तक के पाये गये हैं। जिनके निष्कर्ष से यह भलीभांति सरलता से समझा जा सकता है भारत में ईसापूर्व सूर्य, विष्णु और शिव की मान्यता तो थी किन्तु यह हवन यज्ञ, अनुष्ठान आदि के रूप में, तो भी मन्दिर-मूर्तियों के रूप में नहीं थी, यह सभी नित्य कार्य से सम्बद्ध था। और वैदिक सभ्यता पूर्णरूप से नहीं परन्तु विकृत रूप से प्रभावित थी, बौद्धकाल और जैनकाल, का उत्तरकाल ही मूर्तिपूजा का आरम्भ काल है

जो भारत में यूनान, मिस्र, रोम आदि देशों से आयात की गयी है क्योंकि वहां यह प्रचलित थी।

तीसरा—भारतीय संस्कृति में चिन्तक, मनीषियों का दृष्टिकोण सर्वदा त्रिविध ताप को आध्यात्मिक तरीके से मिटाने का है अतः इनका भी दृष्टिकोण केवल रामकथा कहने की चीज नहीं है अपितु रामकथा के माध्यम से उन मानवीय मूल्यों का जो अध्यात्म के प्रतिष्ठापन के लिए आवश्यक है, स्थापना करना है।

चौथा—भारत में रामायण काल के जो चिह्न, घटनाक्रम के सम्बन्ध में बताये या गिनाये जाते हैं वे मानव द्वारा अन्दाजिया रोजगार की दुकानें हैं। कालगणनानुसार रामायण काल को यदि घटना से सम्बद्ध किया जाय तो प्रायः ९ लाख वर्ष का समय होता है, वाल्मीकि रामायण से पूर्व रामकथासाहित्य के पृष्ठों पर नहीं थी। ईसा से ५-६ सौ वर्ष पूर्व अथवा महाभारतकाल पांच हजार वर्ष पूर्व भी मान लिया जाये तो वाल्मीकि की रामायण प्रकाशमें आती है। रामायण की कथा पुराणों में पाई जाती है तथा जैनपुराणों में भी पाई जाती है सभी पर वाल्मीकि का प्रभाव स्पष्ट प्रतिभासित है घटना क्रम पौराणिकों तथा जैनों ने अपने-अपने मनोनीत लिखे हैं जो एक दूसरे के परस्पर समान नहीं हैं अतः स्पष्ट है घटना क्रम विद्वान लेखकों का अपना मनगढ़न्त है यदि कोई घटना सत्य ही घटी है तो घटना क्रम न्यूनाधिक समान होना चाहिये कागज का प्रचलन प्रायः पन्द्रह हजार वर्ष पूर्व नहीं था, लेखों की रक्षा के माध्यम भिन्न थे, यहां तक कि लिपि भेद था जैसा कि शिलालेखों, लौहस्तंभों की लिपियों से स्पष्ट है।

समय परिवर्तनशील है। ९ लाख वर्ष तो बहुत होते हैं महाभारत काल की घटनाओं के स्थल चिह्न प्राप्त नहीं हैं। भगवान श्रीकृष्ण जिस द्वारिका में निवास करते कहे जाते थे, उसे समुद्र ने लील लिया, अब वहां हजारों फुट पानी है-यदि पांच हजार साल में इतना परिवर्तन हो सकता है तो ९ लाख वर्ष की बात करना तो दुराग्रह मात्र ही कहा जा सकता है। वर्तमान लङ्का कोई लङ्कापुरी नहीं है, एक पूरा देश है-जहां रेल चलती है यदि यह कहा जाय कि वह पानी में समा गई तो यह कैसे कहा जा सकता है कि रामेश्वरम् और रामसेतु यहीं है-अतः स्पष्ट है कि ये सब कुछ श्रीमानस की अपनी अटकलबाजियां हैं। दृष्टि कोण-त्रिविध ताप मिटाने का वास्तव में ठीक है और उसी को लेकर चलना है। इस से स्पष्ट है कि रामायण कथा वास्तविक घटना से सम्बन्धित घटना नहीं है केवल एक कथा है—

शूर्पणखा प्रसंग

शूर्पणखा प्रसंग में कुछ प्रसंग विचारणीय हैं जिनका प्रसंग से निकटतम, सम्बद्ध-सम्बन्ध है।

शूर्पणखा—तामसी, रजोगुण सम्पन्न प्रवृत्ति की कामना मूलक, वासना तथा तृष्णा

संकुल एक प्रतीक-अनार्यनारी।

कामना, वासना, तथा तृष्णा का बाहरी आवरण अति मोहक है किन्तु अभ्यान्तर आक- रण अति भयंकर और भयावह है इस प्रकृति के दो मुख्य स्थान हैं शब्द, जिस में शब्द गुण का प्रतीक श्रवण अर्थात् कान है तथा नासिका में पांचगुण, जिस में चार गुण, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पांचवा गुण गन्ध है जिसका भूतत्त्व पृथिवी है और शब्द का तत्त्व आकाश है। शूर्पनखा के नाक, कान काटने का अर्थ है उसे पांचों तत्त्वों की सक्रियता से योग-क्रिया के द्वारा जैसा कि योग-दर्शन का निर्देश है—'योगश्च चित्तवृत्ति निरोधः'—चित्त वृत्तियों के निरोध से कामना, वासना और तृष्णा को समूल नाश किया जा सकता है कुरूप कर के आकर्षण हीन बनाया जा सकता है। परमात्मा के प्रतीक राम, रजोगुणी आत्मा के प्रतीक लक्ष्मण-जगज्जननी प्रकृति की प्रतीक देवी सीता सभी चित्त की वृत्तियों के निरोध के लिये सजग हैं।

पंचवटी—पांच सूक्ष्म तथा उनका स्थूल तत्त्व जिस जगज्जननी के परिवर्तनीय रूप हैं वह जहां अपने पति परमात्मा और आत्मा, जिस के लिये प्रकृति स्थूल शरीरों की सृष्टि रचती है—वह पंचवटी नहीं तो और क्या हो सकती है?

खर-दूषण, त्रिशिरा—ये तीनों रावण-भ्रा० के भाव हैं, काम, क्रोध, लोभ, अहंकार वाले तथा प्रतीक हैं जो एक दूसरे से संलग्न और महा- भयंकर, दुर्दमनीय हैं—भगवान के प्रतीक राम को दमन करने की सामर्थ्य इन में नहीं है प्रकृति की प्रतीक जगज्जननी सीता और आत्मा के प्रतीक लक्ष्मण को गिरिकन्दरा में सामने पहिले ही भेज दिया है।

१४ हजार राक्षसी सेना, पांच इन्द्रियां, पांच उन के विषय, मन, काम, क्रोध, लोभ, आदि इन का विस्तार असीम है इन को विजय कोई कालजयी-इन्द्रिय जयी ही कर सकता है। परमात्मा तत्त्व जो निर्गुण और इन सब को विजित करने की सामर्थ्य रखता है प्रतीक रूप में राम में वही सामर्थ्य निहित है।

मारीच—मारीच एक भ्रान्ति है आज का प्रबुद्ध भौतिक वैज्ञानिक भ्रान्त होकर वैज्ञानिक अनुसन्धान मानव विनाश आणविक अनुसन्धानों द्वारा संजो रहा है। प्राकृतिक तत्त्वों (प्रकृति) पर अधिकार कर विनाश के साधन-हथियारों और मानव उपयोग के उपकरण बनाकर मानव सामर्थ्य को नाशकर उसे निष्क्रिय बना रहे हैं—आसन्न मानव विनाश सामने खड़ा है इसी प्रकार मरीचिका के भ्रम से आत्मा प्रकृतिलग्न होकर सांसारिक भ्रम में फंसकर संसार को ही सब कुछ समझ लेता है उसके मन मोहक रूप और भोगों में लिप्त होकर कामना ग्रस्त हुआ भ्रान्त होकर मृग- मरीचिका में कामना के पीछे भागता है तो विवेक अपना पहरा बुद्धि से हटा कर भ्रान्तमन की अपने विवेक से सहायता करने जाता है तो छद्मवेषी भौतिकता बुद्धि का बलात् अप- हरण कर लेता है और अशोक वाटिका में उसे विकृत अवस्था में स्थानापन्न कर देता है।

अशोक वाटिका—वह है महा मानव अप- राध को अपराध, अकर्म को अकर्म, अनीति को अनैतिक नहीं मानकर पश्चाताप अर्थात् स्वयं को परिवर्तित नहीं करना।

यह है शूर्पनखा प्रसंग का मेरे विचार से इसका प्रकाशित पक्ष।

-: अपरिग्रह :-

❀ महात्मा श्री भगवानदीन

परिग्रह एक विचारधारा है, जो इस भय से पैदा होती है, कि मैं अधूरा हूं, अपूर्ण हूं। अपरिग्रह दूसरी विचारधारा है, जो इस विश्वास से पैदा होती है कि मैं हर तरह पूर्ण हूं। विचार ही भूत खड़े करता है और विचार ही उन भूतों का नाश करता है।

आदमी परिग्रही बनता है, फिर कुटुम्ब भी परिग्रही बनने लगता है, गांव का गांव परिग्रही हो जाता है और जब यह बीमारी देशव्यापी हो जाती है तब अपरिग्रही बनाना बेहद मुश्किल काम हो जाता है। परिणाम यह होता है कि दूसरे देश उस पर आक्रमण कर देते हैं और फिर वह परदेशियों की सेवा के लिए अपनी परिग्रह वृत्ति का मोल देता है। क्या लोगों ने मक्खियों को पालने और उनसे शहद बनाने का धंधा लेते नहीं देखा है?

अपरिग्रह है खुली रुई और परिग्रह है प्रेस में कसी-कसाई गांठ। एक पानी में तैर जायेगी, एक पानी में डूब जायेगी। एक आसानी से देश के बाहर जा सकती है, दूसरी मुश्किल से। एक के ढेर में आप दब जाइए, आपका कुछ न बिगड़ेगा; एक के नीचे आप आ जाइए, आप पिस कर प्राण गंवा बैठेंगे। परिग्रह और अपरिग्रह में चीजों की कमबेशी का सवाल नहीं है। उस विचार का सवाल है, जो उन चीजों के प्रति रहता है।

यह किसे नहीं मालूम कि बोझ से डूबती नाव को अपरिग्रह ही बचा सकता है? अपरिग्रह कहां काम नहीं आता? हर आफत से बचाता है।

दो साधु थे। एक के पास एक पैसे का परिग्रह था, दूसरे के पास एक कौड़ी भी न थी। आगे नदी। नाव की उतराई थी एक पैसा। पैसेवाले ने पैसा दे दिया। जिसके पास पैसा नहीं था, उसको मल्लाह ने यों ही बैठा लिया। दोनों पार उतर गये। पैसे का परिग्रही साधु बोला—देखो, पैसा कैसे काम आया। दूसरा बोला—पैसा काम आया या अपरिग्रह काम आया? अब हम-तुम समान रूप से अपरिग्रही हैं।

परिग्रही लोकमोटिव चलने वाली रेल का इन्जन है, अपरिग्रही किसी भी रास्ते चल पड़ने वाला घुड़सवार है। परिग्रह न साथ आया, न साथ जाता है। जो साथ आता और जो साथ जाता है, वह है अपरिग्रह। परिग्रही अपरिग्रही की तुलना हो, तो उसे कैसा लगेगा?

परिग्रह घटा कर तो देखिए, आप पर प्रेम की बौछार होने लगेगी। परिग्रह घटा कर तो देखिए! आप से सुख संभाला न संभल सकेगा। परिग्रह घटा कर तो देखिए! कुछ ही दिनों में आपको वह आनन्द आने लगेगा कि आप अपने आप अपरिग्रह व्रत के प्रचारक बन बैठेंगे। परिग्रह पर काबू पाना प्रकृति पर

काबू पाना है और यही तो आदमी का लक्ष्य है। परिग्रह से बचना, अपने पर विश्वास करना और अपने बल पर विश्वास करना है।

स्वामी राम, राजा का अर्थ करते थे रजा हुआ यानी हर तरह से तृप्त यानी पूरा अपरिग्रही। राजा ऐसा न हो, तो वह दुःखी ही रहेगा।

समाजवाद यानी अपरिग्रहवाद। साम्यवाद यानी पूर्ण अपरिग्रहवाद यानी सुखवाद, आनन्दवाद। अपरिग्रह और मारकाट कभी साथ नहीं रहते। अपरिग्रह और शान्ति जुड़वा भाई हैं।

परिग्रह लुटेरों को जन्म देता है। शहद की मक्खी के छत्ते को देख कर रीछ की लार टपक पड़ती है और वह उस पर धावा बोल देता है। परिग्रह तिजोरी और तालों का आविष्कार करता है। अपरिग्रह खुले किवाड़ रखता है।

हां। खूब परिग्रही बनिए, पर यह नोट कर रखिए कि आप सुस्त और आलसी बन जायेंगे और अगर परिग्रह बढ़ता रहा, तो आप इतनी चरबी छा जायेगी कि आपको आबदस्त लेने के लिए भी नौकर रखने पड़ेंगे।

परिग्रह कम करने के बाद जो काम कम कर देता है, वह परिग्रह को नहीं समझा। परिग्रह कम करने के बाद काम तो दुगना तिगुना भी किया जा सकता है और करना चाहिए भी। परिग्रहत्याग में तो कर्मफल का त्याग होता है।

तपस्या ऊँचे दरजे का अपरिग्रह है। कहीं यह न समझ बैठना कि तपस्या दुःखदायी होती है। जिसमें भी दुःख मिले, वह तपस्या ही नहीं है। तपस्या वही है, जो निरन्तर सुख दे। तपस्या का लक्षण है इच्छाओं को वश में करना, न कि [illegible] मरना। इच्छाओं का त्यागना अपरिग्रह है इसलिए तपस्या उच्च कोटि का अपरिग्रह है और वह बड़ा आनंददायक होता है।

अपने से अतिरिक्त दूसरे को अपना समझना परिग्रह है। दूसरे को अपना समझना दुःख है, क्योंकि दूसरा हमारी इच्छा के अनुसार वर्तन नहीं करेगा। जो दुःख नहीं चाहता उसे परिग्रह से बचना चाहिए।

मंडला एक छोटा सा कसबा है, जिसके चारों तरफ नदी बहती है। उसमें बाढ़ आ गयी। बाढ़ में कसबे का बहुत अंश बह गया। एक पक्की हवेली की तो बुनियाद तक का पता न चला। उसके अन्दर रखी हुई तिजोरी पानी में बहुत खोजने पर भी न मिल पायी। इस घटना को हम एक जन सेवक की हैसियत से देखने पहुँचे। वहाँ वह आदमी सब से ज्यादा खुश मिला, जिसकी हवेली बुनियाद से नष्ट हो गयी थी और जिसका कुछ भी न बचा था। हमने उस आदमी को बुलाकर उस की प्रसन्नता का कारण पूछा। उसने छूटते ही जवाब दिया—'ले तो रहा है मेरा मालिक, मैं रो कर क्या करूँ? मैं तो अपना सब कुछ उसी के नाम कर चुका था। मेरा कुछ खोया ही नहीं है।' यह है अपरिग्रह।

लोककल्याण के लिए 'मैं' का विसर्जन

श्री रामानन्दन मिश्र

आह्निक मंत्रों में 'इदन्नमम:' का पुनः पुनः पाठ अपना विशेष महत्व रखता है। यह वैदिक सूक्ति हमें यह स्मरण दिलाने के लिए बार-बार दुहराई जाती है कि इस संसार में अपना कुछ भी नहीं है, जो कुछ भी है वह 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' के अनुसार प्रभु का है इसलिए सभी पदार्थों में अपनापन अथवा मैं-पन हटाकर उसी प्रभु के हेतु अथवा समाज के कल्याण हेतु अर्पण कर देना चाहिए। विद्वान् लेखक ने अपने लेख में 'मैं' के विसर्जन के सम्बन्ध में विद्वतापूर्वक अपने विचार व्यक्त किये हैं।

—सं० सम्पादक

व्यक्ति जब समष्टि की गोद से निकल कर अपनी यात्रा आरंभ करता है, तो समष्टि के साथ का रस मिलता नहीं लेकिन उसकी याद अज्ञात से अपना प्रभाव डालती रहती है। अनजाने, उस केन्द्र से एक निश्चित दूरी पर ही वह वृत्ताकार, भूखा या प्यासा, वेद की भाषा में बुभुक्षित, बुद्धदेव की भाषा में तृषित, घूमता रहता है। इस द्वन्द्व से छुटकारे के लिए वह लिप्सा (वासना) के विविध जालों में उलझता हुआ अज्ञात जीवन व्यतीत करता है। इसी स्थान से मनोविश्लेषकों का, अचेतन, अवचेतन और चेतन का इतिहास प्रारंभ होता है। उनका महान् भ्रम यही है कि वे यह भूल जाते हैं कि अचेतन के परे एक महान् क्षेत्र है जिसकी ग्रंथियां मानव-अन्तर की मौलिक ग्रंथियां हैं। इस ग्रंथि और अचेतन तथा अवचेतन की ग्रंथियां हैं। इस ग्रंथि और अचेतन तथा अवचेतन की ग्रंथियों से छुटकारा पाना ही अध्यात्म का प्रधान कार्य है। महर्षि विनोबा ने सूत्र में कहा—हृद् ग्रंथि-उच्छेदनं अध्यात्मम्। गुरु-वंदना में हम कहते हैं—

हृदि-ग्रंथि-विदारणकारक हे
गुरुदेव दया कर दीन जने

अध्यात्म का महान् प्रश्न है, इस मौलिक ग्रंथि का उच्छेदन किस तरह हो? अर्थात् विस्मृति के अतल तल में डूबा हुआ समष्टि का रस किस तरह निकाला जाय? मनोविज्ञानशास्त्र के, पतंजलि और अभिनव गुप्त, दो प्राचीन आचार्यों ने दो विभिन्न पद्धतियों का निरूपण किया है। किसी प्राचीन आचार्य ने—महान् भावनाओं से प्रेरित, परन्तु समाज

की दृष्टि से देखो—मनुष्य को महानता के पक्ष से विचलित कर, समाज में प्रचलित दुराचारी प्रवृत्तियों के साथ मेल मिला कर, उसे नार्मल बनाने का अनर्थ नहीं किया।

वर्तमान काल भयंकर है। इस युग ने सभी महान प्रेरणाओं को अचेतन के भी नीचे अतल तल में दमित कर रखा दिया है। परन्तु वह क्या सृष्टि-रक्षा-मूलक प्रेरणाओं को दमित रख सकेगा? यदि वे दमित हो रह गये तो समाज नाम की कोई संस्था नहीं रहेगी। मानव हिंस्र पशु बन कर अपना नाश करने को उद्यत होगा। नाश के द्वार पर खड़ा होकर एक बार वह चौंकेगा और अपने कृत्यों को देख कर सहम जायेगा। रक्त की धार चारों तरफ बह रही है और अंधी प्रकृति उन्मत्त हो कर, जो कुछ भी सत्य है, कल्याणकारी है, सुन्दर है, उसके ध्वंसावशेष पर खड़ी हो जाती है और एकाएक देख कर सोचती है—यह क्या हमने किया? यह क्या हमने किया? सहम कर स्तब्ध हो जाती है। तब... तब ही महानता की बची हुई किरणें उसे पुकारती हैं—

मानव सावधान, लौट आओ, लौट आओ,
मानव—अंधे होकर सर्वनाश न करो।

उपरोक्त, युगधर्म पलटने की प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक आधार है। परन्तु, हम व्यक्तिक जीवन में विस्मृति के अतल तल से समष्टि की आनन्दमय अनुभूति को किस तरह जागृत करें जिससे उसका अन्तर केन्द्र से जुड़ कर, सच्चा मानव होकर विश्व-कल्याण के लिए भूतल पर विचरण करे या शांत हो जाये।

अभिनव गुप्त की प्रक्रिया का नाम है—प्रत्यभिज्ञा। अर्थात्, उस मौलिक अभिज्ञा को वापस लाना जिसमें हम समष्टि के साथ थे।

मुझे याद है, बनारस में एक महापुरुष के चरणों में रहते हुए १९६२ में अभिनव गुप्त के इस विषय पर ग्रंथ—'तंत्रालोक'—का अध्ययन मैं कर रहा था। महीने, दो महीने सर खपाने के बाद भी मुझे कुछ समझ में नहीं आया। हताश होकर मैंने उन महापुरुष से प्रार्थना की कि प्रत्यभिज्ञाशास्त्र को मुझे अनुभूति के रूप में समझा दें। उस समय वह चुप रहे। परन्तु कुछ दिन बाद ही एक घटना हो गयी, जिसने मुझे प्रत्यभिज्ञा का रहस्य समझा दिया।

एक दिन दोपहर को एक प्रोफेसर अपनी पत्नी के इलाज के लिए मेरे एक वैद्य मित्र के पास गये और उनसे नुस्खा लिखा लाये। दवाओं को मँगा देने के लिये उन्होंने चालीस रुपये दिये और कह गये कि दूसरे दिन आ कर वह दवायें ले जावेंगे। मैंने दोपहर में दवायें मँगा दीं और उन्हें दो मंजिले पर एक स्थान पर रख दिया। बाकी बचे दस रुपये का एक नोट अपनी जेब में रख कर मैं नीचे के कमरे में पाँच बजे संध्या-वंदन के लिए चला गया। दस रुपये का नोट उन्हें मैं देना भूल न जाऊँ

इसलिए टेबुल पर नोट रख उस पर ताला रख दिया जिससे ताला लगा कर ऊपर जाते समय दस रुपये वाला नोट भी अपने साथ रख लूँ। उस रात मैं इस तरह ध्यानमग्न रहा कि भोजन के लिए भी नहीं उठा। सुबह पाँच बजे जब निद्रा भंग हुई तो ताला लेकर कमरे में लगाने चला तो उसके नीचे दस रुपये का नोट देखकर विस्मय में पड़ गया। कुछ समझ में नहीं आया कि यह नोट यहाँ क्यों पड़ा है? ताला लगाकर ऊपर गया। शौचादि से निवृत्ति हो, स्नान कर फिर नीचे वाले कमरे में प्रातःकालीन ध्यान-पूजा के लिए आया और सात बजे ऊपर दोतल्ले पर गया। किसी तरह भी उस दस रुपये के नोट के टेबुल पर रहने का रहस्य समझ में नहीं आया। थक कर, सुबह के जलपान आदि से निवृत्त हो, लोगों से मिलने-जुलने में व्यस्त रहा। उसी बीच बड़े बच्चे जी आये। उनको देखते ही हठात् नोट के टेबुल पर रहने का रहस्य विस्मृति के गर्भ से लौट आया।

इस तरह की छोटी-मोटी घटनाएँ सामान्य जीवन में होती ही रहती हैं। सरल भाषा में कहें तो, "भूली बात की यादगार" इसे कहेंगे, यही प्रक्रिया साधना के रूप में, भगवत् मिलन की भूली यादगार को जागृत करने के लिए जब प्रयुक्त होती है तो उसे "प्रत्यभिज्ञा" कहते हैं।

यह सामान्य अनुभव है कि कभी हम कोई नाम याद करना चाहते हैं परन्तु लगता है कंठ के नीचे है- ऊपर नहीं आ रहा है। कभी कोई कहीं गया है और वहाँ अपना एक सामान छोड़ आया है। लेकिन अब उसे याद नहीं आ रहा है कि कहाँ छोड़ आया है। उस समय उस यादगार को लौटाने के लिए हम क्या करते हैं?

१. यदि वह भूली हुई चीज आवश्यक नहीं है तो एक-दो बार चेष्टा कर हम उसकी याद लौटाने की चेष्टा का बोझ मस्तिष्क पर नहीं डालते। परन्तु, कोई चीज या कोई बात ऐसी हो सकती है जिसका अनुसंधान (क) आवश्यक, (ख) अत्यन्त आवश्यक और (ग) परम आवश्यक हो तो तारतम्य से इनके लिए गई की चेष्टाओं में भी तारतम्य होगा।

२. प्रत्येक अवस्था में व्यक्ति साधारणतः अपने अन्तर को घुमा कर उसी स्थान पर या उस काल में अपने मानस को ले जाना चाहता है जहाँ वह वस्तु या घटना के होने की संभावना है। मनोविश्लेषणशास्त्र के विशेषज्ञ हिप्नोटिज्म (सम्मोहन) की पद्धति से किसी व्यक्ति को अर्धबेहोशी की हालत में उसके शैशव में ले जाते हैं, जहाँ वर्तमान में अयुक्तिकर या कारण-विहीनता या अन्य कोई विकृत मनोभाव की जड़ छिपी है। इस पद्धति से काफी दूर तक मनोविश्लेषणशास्त्र के आचार्य किसी मानसिक रोगी को ले जा सकते हैं। इसे डॉक्टरी भाषा में रिग्रेसिव हिप्नोसिस कहते हैं।

परन्तु इससे जन्म-जन्मान्तर की ओषधी के मूल में, अर्थात् जहाँ 'सामान्य' से 'विशेष' का उदय हुआ है वहाँ से उसे नहीं ले जा सकते। क्योंकि वहाँ पहुँच कर व्यक्ति जीवित नहीं लौट सकता।

वहाँ जाना यदि अत्यन्त आवश्यक है तो कोई आचार्य आध्यात्मिक पद्धति से उसे "मौन" का अभ्यास करायेगा। जैसे, हृदय के दाहिनी तरफ मन को रख कर आत्मानुसंधान से प्रेरित हो अन्य विचारों को फेंकता जायेगा और 'मैं' के उद्गम स्थान को पाने की चेष्टा करेगा। इसी हो यजुर्वेद ने कहा— ब्रह्मैव विज्ञानं यात्। क्राइस्ट की वाणी में इसे कहेंगे—'माउ ब्रा'माहल्ला'। मेरी स्नेहमयी आदरणीय बहन विमला ठकार, इसी तरह, मौन में जाने की प्रेरणा देती है और उस स्थान से स्पर्श कराने की चेष्टा करती है। रवीन्द्रनाथ टागोर ने अपनी 'ध्यान' शीर्षक कविता में गाया है—

नित्य तोमार चित्त भरिया स्मरण (स्मरण) करो
विश्व-विहीन विजने वासिया वरण करो।

इस बिन्दु पर स्थिति के लिए अभिनव गुप्त के अनुसार विचार के संयमन के साथ-साथ स्पन्दन का निरीक्षण द्वारा स्तंभन करना आवश्यक है। स्पंदन का उदय चैतन्य से होता है। जब चैतन्य सृष्टि-क्रिया के लिए पेंडिंग होता है तो स्पंदन का उदय होता है। यही स्पंदन विश्व-प्राण से संयुक्त होकर कुंडलिनी के सहारे व्यक्तिगत प्राण का रूप लेता है। अंग्रेजी शब्दावली के अनुसार 'एनिमेशन' और 'ब्रिदिंग प्रोसेस' में जो सम्बन्ध स्पंदन और प्राण में है। प्रिय भाव से सस्पेंडेड एनिमेशन जिसे कहेंगे उसे ही हम एक तरह से निस्पंद कहते हैं। यह क्रिया नाभि और नासिका के उत्थान और पतन के एकाग्र निरीक्षण से सम्पन्न होती है।

परन्तु, इस तरह अवधान में रत रहना साधारणतया अत्यन्त कठिन होता है। आकस्मिक प्रमाद और आलस्य उसे वहाँ से खींच लाता है। इससे भी कठिन प्रश्न होता है—उस स्थान पर शून्यता का बोध। इसी को लक्ष्य कर एक अंग्रेज कवि ने गाया है—

'ओ सालिट्यूड, व्हेयर आर दाय चार्म्स, विच सेजेस हैव सीन इन दाय फेस।' मानव-अन्तर-रस कहाँ? इस भाव से दुःखी हो कर प्रयत्न छोड़ देता है।

३. यदि चरम आवश्यक है, तो वह व्यक्ति अपने आयास की पूरी शक्ति लगा कर उस बिन्दु पर खड़ा रहेगा। जब शकुन्तला के पति दुष्यन्त यह भूल गये कि उन्होंने शकुन्तला को कण्व ऋषि के आश्रम में पत्नी रूप से स्वीकार किया था और उसकी यादगार स्वरूप दुष्यंत की दी हुई अँगूठी शकुन्तला ने राजनगरी में स्नान करते समय खो दी, तो कण्व ऋषि के आदेश से शकुन्तला उसी सरोवर के निकट जीवन की बाजी लगाकर कठिन तपस्या करने

मछली के पेट में गयी और वह मछली जब मल्लाहों द्वारा राजभवन की पाठशाला में पहुँचायी गयी तो राजमुद्रांकित उस अँगूठी को देखकर, रानियाँ विस्मित हो गयीं और उन्होंने दुष्यन्त को वह अँगूठी दी। अँगूठी देखते ही दुष्यन्त की स्मृति लौट आयी और उसने शकुन्तला को स्वीकार किया। इसी कथानक को आश्रय कर विश्व के महान साहित्यिक कालिदास ने "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" की रचना की। अँगूठी वह शाकुन्तल था जिसके सहारे प्रत्यभिज्ञा लौट आयी। इसी तरह "मैं" के सहारे जिवात्मा की याद-गार लौटायी जा सकती है।

बीसवीं शताब्दी के अंग्रेज महाकवि टी. एस. इलियट ने इसे ही कहा है—

फुटफाल्स एको इन मेमरी
डुन दि पैसेज व्हिच वी डिड नॉट टेक
टुवर्ड्स दि डोअर वी नेवर ओपन्ड

इस बन्द द्वार को खोलने का परम प्रयास तब होता है जब हृदय व्याकुल हो कर पुकार उठता है :—

"दिल का प्यारा दिल में बसता है,
मगर मिलता नहीं।"

'पातंजल योग' ने प्रथम तीन सूत्रों में इसे इस तरह बताया है—

"अथ योगानुशासनम्"
"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"
"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"

चित्तवृत्ति का निरोध कर जब अर्न्तमन मन खड़ा रहता है तब "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽव-स्थानम्" अर्थात् अपने सत्य स्वरूप में वह व्यक्ति स्थित हो जाता है।

वेद ने सहज भाषा में इसे कहा है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह
आनंदं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन

जैसे ब्रह्मर्षि विनोबा ने एक लेख में 'हम' 'मैं' को काटिए' में कहा है उसी को दूसरी भाषा में कहना हो तो कहेंगे—'विश्व-कल्याण के लिए मैं का 'विसर्जन' और यह पूर्ण सफल तभी होगा जब दिल में बसने वाले प्रियतम के प्रेम में निजत्व को डुबा दिया जाये।

❀ विचार-कण ❀

सामान्य मनुष्य पशु स्तर पर जीवन यापन करता है तथा वह पशुओं की भांति सोता जागता और भोग्य पदार्थों की ओर दौड़ते हुए जीवन यात्रा को समाप्त कर देता है। सामान्य मनुष्य रात्रि के अन्धकार होने पर सो जाता है तथा सूर्योदय होने पर जाग जाता है। किन्तु योगी की दृष्टि में देह का सोना जागना महत्वपूर्ण नहीं है। योगी ज्ञान के प्रकाश का जागरण तथा अज्ञान के अन्धकार को सोना मानता है। —शिव

चमत्कार का नहीं---
साधना का महत्व है

● श्री दर्शनानन्द

घटना उस समय की है जब भगवान बुद्ध इस धरती पर अपना धर्मोपदेश कर रहे थे। एक दिन उस विहार के सामने से गुजरने वाले मार्ग पर जहाँ तथागत अपने साधकों के साथ ठहरे हुए थे, किसी एक पुरुष ने एक बहुत ऊँचा स्तूप गाड़कर उस पर एक रत्नजटित स्वर्ण पात्र लटका दिया और घोषणा कर दी कि कोई भी साधक भिक्षु या योगी बिना कोई सीढ़ी लगाये-बिना किसी छड़ी बाँस बल्ली का सहारा लिये—केवल नीचे से हाथ के इशारे से अपने साधना चमत्कार से इसे नीचे उतार लेगा उसे इस रत्न-जटित स्वर्णपात्र के अतिरिक्त दस सहस्र स्वर्णमुद्रायें पुरस्कार रूप में और प्रदान करदी जायगीं।

बहुसंख्यक लोग स्वर्णपात्र को स्तूप पर लटका हुआ देखते, इस संबंध में की जाती रही घोषणा को भी सुनते किन्तु कोई भी अपने चमत्कार के प्रभाव से उसे उतारने में सक्षम न हो पाता। एक दिन तथागत के साथ विहार में ही-योगाभ्यास और साधना में रत एक योगी साधक उस समय जब तथागत वायु-भ्रमण को गये हुये थे-स्तूप के नीचे जा पहुँचा और केवल मात्र अपने हाथके इशारे से उस पात्र का चमत्कार के प्रभाव से नीचे उतार लिया। घोषणानुसार इसे पुरस्कार और स्वर्णपात्र दोनों ही समर्पित कर दिये गये। साथ ही इस चमत्कार की चर्चा भी चारों ओर फैल गई। इसके फलस्वरूप लोगों की भारी भीड़ इस साधक को देखने के लिए जमा हो गई।

भगवान बुद्ध जब लौटकर आये तो उन्होंने विहार में भीड़ जमा होने का कारण पूछा। एक भिक्षु ने बताया कि बाहर स्तूप पर लटके रत्नजटित

थाले–को साधक गौतम ने चमत्कार के बल से नीचे उतार कर पुरस्कार प्राप्त कर लिया है, उसे देखने के लिए ही यह भीड़ जमा है। इतना सुनते ही तथागत–भगवान बुद्ध, गौतम के कक्ष में आ पहुँचे और उस पुरस्कार राशि समेत रत्न-जटित स्वर्णपात्र को तोड़-फोड़ कर कहीं दूर किसी अज्ञात स्थान पर फिंकवा दिया। और गौतम सहित सभी साधकों को सम्बोधित करते हुये उन्होंने कहा—

'तुम्हारी सबकी साधना का लक्ष्य भौतिक सुखों की उपलब्धि नहीं है किन्तु आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति के लिए तुम सब यहाँ मेरे साथ हो। अपना कल्याण चाहते हो तो चमत्कारों के प्रदर्शन से बचो। चमत्कार तुम्हारी सारी साधना को व्यर्थ कर डालेंगे। यदि चमत्कार का प्रदर्शन ही तुम्हारी साधना का उद्देश है तो मुझे कहना पड़ेगा कि अब तक न तो तुमने धर्म का सार समझा है और न साधना का महत्व।'

× × × × ×

हमारे पूज्य गुरुदेव श्री भी अपने योग–साधक शिष्यों को प्रायः यही उपदेश देते रहते हैं कि विभूति अथवा चमत्कार–प्रदर्शन की लालसा तुम्हें साधना के लक्ष्य से पथभ्रष्ट कर डालेगी इसलिए उनसे सदैव बचकर रहना चाहिए। ❀❀

❀ अनायास उनको मिल जाते श्री भगवान् ❀

एक देश में स्थित रवि करता दिग्दिगन्त में पूर्ण प्रकाश,
उसी तरह सम्पूर्ण क्षेत्र में क्षेत्री करता नित्य विकास।
क्षर-अक्षर-अतीत पुरुषोत्तम, जीवरूप है जिनका अंश,
क्षर होने से प्रकृति राज्य में पाता जन्म, दुःख, विध्वंस॥
परमहंस मुनि मन-इन्द्रिय को वश में करके करते ध्यान,
नेति-नेति कर ब्रह्मरूप में, पाते जिनका अनुसन्धान।
देह-प्राण-मन अर्पित करके प्रियतम का करते गुणगान,
अनायास उनको मिल जाते, पूर्ण परात्पर श्रीभगवान्॥

—श्री रतनलाल गुप्त

सिद्ध कृपा का सुपरिणाम—

❈ श्री युक्तेश्वर का पुनरुत्थान ❈

❈ श्री डा० विजयसिंह द्वारा प्रेषित—

भगवान श्रीकृष्ण ! परिपूर्ण षोडश कलावतार एक प्रचण्ड प्रकाश के मध्य आविर्भूत हुये, जब मैं बम्बई के रीजेन्ट होटल के अपने कमरे में बैठा हुआ था। सामने वाली ऊँची इमारत की छत पर यह अवर्णनीय दृश्य एका-एक मुझे दिखाई दिया।

भगवान श्रीकृष्ण मधुर हास्य के साथ सिर हिलाते हुये हाथ से कुछ संकेत कर रहे थे, पर मैं उनके संदेश को ठीक-ठीक समझने में असफल रहा। अन्त में वे आशीर्वाद का संकेत करते हुए अन्तर्धान हो गये। मन एक वर्णनातीत आनन्द से ओत-प्रोत हो उठा।

भगवान श्रीकृष्ण के दर्शन के एक सप्ताह बाद १९ जून, १९३६ के अपराह्न तीन बजे मैं बम्बई के होटल में अपने बिछौने पर ध्यान मग्न बैठा हुआ था हठात् एक आह्लादकर प्रकाश के स्फुरण से मेरा ध्यान टूट गया। मेरे खुले और विस्मय-विस्फारित नेत्रों के सामने एक विचित्र दृश्य मण्डित हुआ। सारा कमरा एक अद्भुत विश्व में परिणत हो गया और सूर्य का प्रकाश एक स्वर्गीय तेज में बदल गया। रक्त मांस के शरीर में श्रीयुक्तेश्वर जी मेरे सामने खड़े थे। उनका अप्रत्याशित दर्शन पाकर मैं एकदम हर्षोन्मत्त हो उठा।

गुरुदेव के मुँह पर एक देव-दुर्लभ मुस्कराहट खेल रही थी। उन्होंने स्नेह विह्वलस्वर में कहा—मेरे बेटे! जीवन में यह पहला ही अवसर था, जब मैं नतजानु होकर गुरु-चरणों में प्रणाम करना भूल गया और आगे बढ़कर उन्हें दोनों भुजाओं में कसते हुए आलिंगन-पाश में बांध लिया। आनन्दातिरेक में मैं असंगत सा बोलने लगा: मेरे गुरुदेव, मेरे अन्तरप्राण, आप मुझे छोड़कर क्यों चले गये? आपने मुझे कुम्भ मेले में क्यों जाने दिये?

गुरुदेव ने कहा—जिस स्थान पर मैंने प्रथम बार बाबा जी का साक्षात्कार किया था, उस तीर्थस्थल के दर्शन को तुम्हारी आनन्दमय यात्रा में मैं बाधक नहीं बनना चाहता था। मेरा तुम्हारा वियोग तो केवल थोड़े समय के लिये था।

क्या मैं पुनः तुम्हारे पास नहीं लौट आया हूँ?

परन्तु सचमुच क्या आप वही ईश्वर के सिंह मेरे गुरुदेव हैं? क्या आप वही शरीर धारण किये हैं जिसे मैंने पुरी की निष्ठुर बालू में समाधिस्थ कर दिया था?

हाँ, मेरे बच्चे, मैं वही हूँ। यह रक्त-मांस का ही शरीर है। यद्यपि मेरी दृष्टि में यह सूक्ष्म है, तथापि तुम्हारी दृष्टि में यह भौतिक शरीर ही है। महाव्योम-परमाणुओं से ठीक प्रकार के नये शरीर की सृष्टि की है, जिस प्रकार के शरीर को तुमने अपने स्वप्न-जगत के पुरीधाम में स्वप्न बालुका के नीचे समाधि दे दी थी। सत्य तो यह है कि मृतावस्था से मैं पुनर्जीवित हुआ हूँ-- पर इस पृथ्वी पर नहीं अपितु सूक्ष्म जगत् में। इस पृथ्वी की अपेक्षा वहाँ के अधिवासी मेरे उच्चादर्श के अधिक अनुरूप हैं। तुम तुम्हारे प्रियजन भी किसी दिन मेरे पास आ जाओगे।

"मेरे गुरुदेव मुझे और अधिक बताइये"

गुरुदेव ने तुरन्त विनोद पूर्ण हास्य किया और कहा, "प्रिय बेटे, जरा अपनी पकड़ तो ढीली करो।

केवल थोड़ा-सा ! मैं उन्हें अष्टपाद के समान जकड़े हुये था। पहले उनके शरीर से एक विशेष प्रकार की हल्की-हल्की नैसर्गिक सुगन्ध विकीर्ण हुआ करती थी। जब कभी उस गौरवमय क्षण का स्मरण हो आता है, तब अपनी भुजाओं और हाथों में उनके दिव्य शरीर के रोमांचकारी स्पर्श का मैं आज भी अनुभव करता हूँ।

श्री युक्तेश्वर जी ने बताया—"जिसप्रकार कर्मभोग में मानवों की सहायता करने के लिये महापुरुषों को पृथ्वी पर भेजा जाता है, उसी प्रकार मुझे एक सूक्ष्म जगत् में त्राता के रूप में कार्य करने को ईश्वर से आदेश मिला है। उस जगत् का नाम हिरण्यलोक है। सूक्ष्म जगत् के कर्मफल से छुटकारा पाकर सूक्ष्म पुनर्जन्म से मुक्तिलाभ करने में वहाँ के उन्नत अधिवासियों की मैं सहायता करता हूँ। वे सबके सब ऐसे लोग हैं, जिन्होंने इस पृथ्वी पर अपने पूर्वजन्म में ध्यान-बल से मृत्युकाल में सज्ञान-भाव से भौतिक शरीर त्यागने की क्षमता प्राप्त की थी। जब तक कोई मनुष्य इस पृथ्वी पर सविकल्प समाधि का अतिक्रमण कर निर्विकल्प समाधि अवस्था में नहीं पहुँच जाता, तब तक उसे हिरण्यलोक में प्रवेश नहीं मिल सकता।

विश्व-विधान के अनुसार इस प्रकार के साधकों को हिरण्यलोक में नये सूक्ष्म शरीर धारण कर पुनर्जन्म लेना पड़ता है, जिससे कि उनके कर्मबीजों का लेशमात्र भी फल शेष न रह जाय। और, उनकी सहायता के लिये मैं उसी लोक में हूँ। हिरण्यलोक में प्रायः पूर्णावस्था प्राप्त जीव भी निवास करते हैं, जो उच्चतर कारण-जगत से वहाँ आये हैं।

गुरुदेव के मन के साथ मेरा मन पूर्ण रूप से एकाकार हो उठा था कि आंशिक रूप से वाणी द्वारा और आंशिक रूप से विचार सम्प्रेषण द्वारा वे अपने शब्द चित्रों को मुझ तक पहुँचा देते थे।

गुरुदेव का सम्भाषण जारी रहा "तुमने धर्मशास्त्रों में पढ़ा है कि ईश्वर ने मानवात्मा को पर्यायक्रम से तीन शरीरों में आबद्ध कर रखा है। वे हैं—भाव अथवा कारण—शरीर, सूक्ष्म अतिवाहक शरीर जो मनुष्य के मानसिक और भावात्मक प्रकृति का स्थान है और स्थूल भौतिक शरीर। पृथ्वी पर मनुष्य भौतिक इन्द्रियानुभूतियों से युक्त रहता है। सूक्ष्म शरीर में पुरुष चैतन्य भावनाओं और प्राण कणिकाओं से निर्मित शरीर वाला होता है। कारण-शरीरधारी जीव आनन्दमय भावराज्य में विचरण करता है। मेरा कार्य उन शरीर धारियों की सहायता करना है जो सूक्ष्म से कारण-विश्व में प्रवेश या पुनः प्रवेश करने की तैयारी कर रहे हैं।

पूज्य गुरुदेव, सूक्ष्म जगत के सम्बन्ध में मुझे और कुछ बताने की कृपा करें।

गुरुदेव बताने लगे—अनेक सूक्ष्म जगत हैं, जिनमें सूक्ष्म देहधारी प्राणी निवास करते हैं। उन जगतों के निवासी एक ग्रह से दूसरे ग्रह की यात्रा के लिये सूक्ष्म वाहनों या आलोक-पुंज का उपयोग करते हैं। ये साधन विद्युत से भी अधिक द्रुतगति वाले हैं।

सूक्ष्मलोक आलोक और रंग पुंजों के स्पन्दनों से गठित है। इस स्थूल लोक से सैकड़ों गुना बड़ा है। यह स्थूल सृष्टि सूक्ष्म जगत के तेजोमय विशाल गुब्बारे के नीचे एक छोटी सी टोकरी की भाँति लटकी हुई है। जिस प्रकार अवकाश अथवा महाशून्य में अनेक स्थूल सूर्य और तारागण परिभ्रमण करते रहते हैं, वैसे ही असंख्य सूक्ष्म सूर्य और ग्रह, नक्षत्र मण्डल प्रणालियाँ भी हैं। सूक्ष्म सूर्य और चन्द्रगण स्थूल सूर्य चन्द्रों की अपेक्षा अधिक रमणीय हैं। सूक्ष्म जगत के ये नक्षत्र मेरु प्रभा जैसे दिखाई पड़ते हैं। सूक्ष्म जगत के दिन और रात पृथ्वी की अपेक्षा अधिक लम्बे होते हैं।

सूक्ष्म जगत असीम सुन्दर, स्वच्छ, विशुद्ध व सुव्यवस्थित है। वहाँ कोई निर्जीव ग्रह या अनुर्वर भूमि नहीं है। पृथ्वी के अभिशाप अर्थात् घास-फूस, जीवाणु, कीड़े-मकोड़े, सर्पादि वहाँ नहीं हैं। पृथ्वी की भाँति सूक्ष्म जगत में परिवर्तनशील और अनिश्चित जलवायु या ऋतु नहीं है वहाँ सर्वदा चिर वसंत ऋतु की सम-शीतोष्ण जलवायु रहती है और बीच बीच में आलोकोज्ज्वल शुभ्र तुषारपात एवं बहुरंगे प्रकाश की वर्षा होती है। सूक्ष्म जगतों में पारदर्शी जल की झीलें, चमकीले समुद्र और इन्द्रधनुषीय नदियाँ विद्यमान हैं।

साधारण सूक्ष्म जगत में—न कि हिरण्यलोक नामक सूक्ष्मतर सूक्ष्म जगत में—पृथ्वी पर से नूतन आगत-लक्ष-लक्ष सूक्ष्म जीवात्माओं का निवास है। वहाँ असंख्य परियों, मत्स्य-कन्याओं, मछलियों, पशुओं, अपदेवताओं,

कीटों, पक्षों और प्रेतात्माओं की भी भरमार है जो सभी अपने-अपने कर्मों के शुभाशुभ के अनुसार विभिन्न सूक्ष्म ग्रहों पर निवास करते हैं। भद्र और अभद्र जीवात्माओं के लिये भिन्न-भिन्न स्तर के मण्डलाकार आवासों या स्पंदन-भूमि की व्यवस्था है। भली जीवात्मायें मुक्त विचरण कर सकती हैं। किन्तु दुष्ट आत्माओं के लिये सीमित क्षेत्र निर्धारित है। जिस प्रकार इस पृथ्वी पर मानव, मिट्टी के नीचे कीट-पतंग, जल में मछलियाँ और वायु में पक्षी रहते हैं उसी प्रकार विभिन्न श्रेणियों की सूक्ष्म जीवात्माओं के लिये भी उपयुक्त स्पन्दन क्षेत्र निर्धारित किये गये हैं।

विभिन्न सूक्ष्म जगतों से निष्कासित हो कर आये हुये पतित देवदूतों के मध्य संघर्ष या युद्ध में प्राण के परमाणु-बमों अथवा मानसिक मंत्र शक्ति की स्पंदनशील किरणों का प्रयोग होता है। ये बहिष्कृत जीवात्मायें निम्नतर सूक्ष्म जगतों के अन्धकाराच्छन्न प्रदेशों में निवास करते हुए अपने दुष्ट कर्मों का भोग करती हैं।

इस अन्धकार मय कारागार के ऊपर का समस्त विशाल प्रदेश सुन्दर एवं प्रकाशमय है। सूक्ष्म जगत ईश्वर की इच्छा और परिपूर्णता प्राप्ति की परिकल्पना के साथ पृथ्वी की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक ढंग से लय में है। सूक्ष्म जगत की प्रत्येक वस्तु प्रधानतः ईश्वर की इच्छा तथा अंशतः सूक्ष्म जीवात्माओं की इच्छा के आह्वान से आविर्भूत होती है। उन जीवात्माओं के पास ईश्वर-सृष्टि किसी भी वस्तु के आकार या सौंदर्य में परिवर्तन या परिवर्धन करने की शक्ति है, ईश्वर ने अपनी सूक्ष्म जगत की संतानों को को सूक्ष्म जगत की वस्तुओं को इच्छा मात्र से परिवर्तित या उन्नत करने की स्वतन्त्रता या विशेषाधिकार प्रदान कर रक्खा है। पृथ्वी पर किसी ठोस वस्तु को नैसर्गिक या रासायनिक प्रक्रियाओं से ही द्रव या किसी अन्य रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। परन्तु सूक्ष्म जगत की ठोस वस्तुयें वहाँ के निवासियों की एक मात्र इच्छा से अविलम्ब द्रवों, परमाणु शक्ति में परिवर्तित हो जाती हैं।

यह पृथ्वी जल, थल, और वायु में युद्ध-विग्रह तथा हत्याओं से कलंकित है, किन्तु सूक्ष्म क्षेत्र में सुखमय समरसता और समानता विराजमान है। सूक्ष्म-शरीरी मानव इच्छानुसार प्रकट या अदृश्य हो सकते हैं। पुष्प या मत्स्य या पशु कुछ समय के लिये सूक्ष्म-शरीरी मानव का रूप ग्रहण कर सकते हैं। सूक्ष्म जगत् के किसी भी वृक्ष से आम या फल या फूल या कोई अन्य इच्छित पदार्थ सफलता पूर्वक प्राप्त किये जा सकते हैं। कतिपय कर्म-बन्धन अवश्य है परन्तु सूक्ष्म

जगत् में भिन्न-भिन्न आकार धारण करने के विषय में प्रतिबन्ध नहीं है।

वहाँ कोई भी जीव नारी गर्भ से जन्म नहीं लेता। सूक्ष्म जगत् के निवासियों की इच्छाशक्ति ईश्वरानुकूल होती है। वे अपनी आज्ञा मात्र से विशिष्ट सूक्ष्म शरीर युक्त सन्तान उत्पन्न कर लेते हैं। सद्यः मुक्त देह-मुक्त जीव अपने ही समान नैसर्गिक और आध्यात्मिक वृत्तियों से आकर्षित होकर सूक्ष्म जगत के किसी परिवार में उसके आह्वान पर जन्म लेता है।

सूक्ष्म शरीर में सूक्ष्म मस्तिष्क होता है, जहाँ आलोक निर्मित सर्वदर्शी सहस्रदल कमल आंशिक रूप से क्रियाशील रहता है। उस शरीर में सुषुम्ना सूक्ष्म मेरुदण्ड में स्थित छः विकसित चक्र या चक्र होते हैं। हृदय इस सूक्ष्म मस्तिष्क से आलोक और महत्वागतिक शक्ति लेकर उसे सूक्ष्म स्नायुतन्तुओं और शरीर-कोषों में परिचालित करता है। सूक्ष्म जीव प्राणकणिका-शक्ति और पवित्र मन्त्रों के स्पन्दन द्वारा अपने रूपों में परिवर्तन करने में समर्थ होते हैं।

"सूक्ष्म शरीर अधिकांशतः अन्तिम भौतिक शरीर की यथार्थ प्रतिमूर्ति होती है। सूक्ष्म जीवों का मुख और शरीर उनके पूर्वजन्म के यौवनकालीन पार्थिव शरीर के सदृश रहता है। कभी-कभी कोई-कोई सूक्ष्मजीव मेरे समान वृद्धावस्था का ही रूप बनाये रखना पसन्द करता है।" श्री गुरुदेव यौवन-सुलभ उल्लास के साथ हँसने लगे।

उन्होंने आगे कहा—"विविध भौतिक जगत, जिसका बोध पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही होता है, इसके विपरीत सूक्ष्म लोक का सर्वग्राही षष्ठेन्द्रिय—अन्तर्ज्ञान—द्वारा अनुभव होता है। सारे सूक्ष्म शरीरी केवल अन्तर्ज्ञान द्वारा ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का अनुभव करते हैं। उनके तीन नेत्र होते हैं, जिनमें दो अर्धनिमीलित रहते हैं। तीसरा और मुख्य सूक्ष्म, नेत्र, जो भ्रूमध्य में सीधा स्थित है खुला रहता है। सूक्ष्म लोकवासी मानवों के आँख, कान, नाक, जीभ और त्वक् ये सारी बहिरिन्द्रियाँ होती हैं, परन्तु वे अन्तर्ज्ञान के द्वारा वे शरीर के किसी अंग द्वारा संवेदन का अनुभव कर सकते हैं। वे कान, नाक, त्वचा द्वारा देख सकते हैं।

"मनुष्य के स्थूल शरीर के लिये असंख्य भय हैं। वह सहज ही घायल अंगहीन हो सकता है। परन्तु सूक्ष्म आत्मिक देह चाहे कट जाये अथवा क्षत-विक्षत हो जाय, फिर भी वह इच्छामात्र से अविलम्ब स्वस्थ हो जाती है।"

गुरुदेव क्या समस्त सूक्ष्म शरीरी सुन्दर होते हैं? सौन्दर्य सूक्ष्म जगत में एक आध्यात्मिक गुण माना जाता है। बाह्य रूप नहीं,"

श्री युक्तेश्वर जी ने उत्तर दिया । इसलिए सूक्ष्म शरीरी रूपाकृति को बहुत महत्व नहीं देते उनको एक विशेष सुविधा भी प्राप्त है। जिस प्रकार संसारी मानव उत्सव, समारोह आदि के उपलक्ष में अपने को नूतन वस्त्राभूषण आदि से सजाते हैं, ठीक उसी प्रकार सूक्ष्म शरीरी भी समय-समय पर विशिष्ट रूप धारण करते हैं।

हिरण्य लोक तथा उन्नतस्तरीय सूक्ष्म ग्रहों पर उस समय आनन्दोत्सव मनाये जाते हैं जब कोई जीवात्मा आध्यात्मिक उन्नति द्वारा सूक्ष्म जगत से मुक्त हो कर कारण जगत के स्वर्ग में प्रवेश करने योग्य हो जाते हैं । ऐसे अवसरों पर अगोचर परम पिता और उनसे एकाकार हो गए साधु सन्त भी इच्छा अनुसार सूक्ष्म शरीर धारण करके उत्सव में भाग लेते हैं। परम पिता अपनी प्रिय संतान को संतुष्ट करने के लिए उसकी इच्छा के अनुसार ही रूप धारण करते हैं । पूर्व जन्म के मित्र परलोक में एक दूसरे को सहज ही पहचान लेते हैं । परलोकवासी पार्थिव आवरण को वेध करके मनुष्य के सारे क्रिया कलापों को अनुभव करते हैं । परन्तु मनुष्य अपनी छठी इन्द्रिय का विकास किये बिना सूक्ष्म प्रदेशों को नहीं देख सकता । पृथ्वी पर के हजारों निवासियों ने सूक्ष्म लोक या सूक्ष्म जगत की क्षणिक झांकी देखी है।

सामान्यतः हिरण्यलोक के वासी दीर्घ दिन और सूक्ष्म रात्रि में निर्विकल्प समाधि के आनन्द में मग्न रहा करते हैं । विश्व-परिचालन की जटिल समस्याओं को समाधान तथा पृथ्वी बद्ध जीवों के उद्धार कार्य सम्पन्न करने में सहायक होते हैं।

"तथापि सूक्ष्म जगत के सभी भागों के अधिवासी मानसिक यातनाओं से सर्वथा मुक्त नहीं होते । हिरण्यलोक जैसे ग्रहों पर निवास करने वाले उच्च भक्तों के आचरण या सत्य की उपलब्धि विषयक आचरण की भूल द्वारा उत्पन्न संवेदना मन को दारुण दुःख पहुँचाती है । वहाँ सभी परिपूर्ण आध्यात्मिक नियमों के अनुरूप अपने को रखने का प्रयत्न करते हैं।

—क्रमशः

❀ मूल्य समाप्ति की अंतिम सूचना ❀

प्रस्तुत अङ्क 'सिद्धयोग' के १८ वें वर्ष का ग्यारह वां अङ्क है, जो सभी योग-प्रेमी ग्राहकों की सेवा में प्रेषित किया जा रहा है। वर्ष १८ के लिए जो वार्षिक मूल्य आपने जमा कराया था उसमें मार्च ८९ का बारह वां अङ्क और भेजा जाना शेष है। इस बारहवें अङ्क के पहुँचने पर आपका गत वर्ष जमा कराया गया मूल्य चुकता हो जायगा। इसलिए वर्ष १९ वें के लिए आप अपना मूल्य अभी से भेजना प्रारम्भ कर दें, ताकि वर्ष के प्रारम्भ का संग्रहणीय विशेषाङ्क आपको प्रकाशित होने के तुरन्त बाद भेजने की सुविधा हो सके। मूल्य मनीआर्डर अथवा किसी अन्य विश्वसनीय माध्यम से व्यवस्थापक 'सिद्धयोग कार्यालय,' सवाई के पते पर ही भेजा जाना चाहिए। —व्यवस्थापक

शब्द-सत्य : शब्दातीत सत्य

● श्री मकरन्द दवे

लेखक श्री मकरन्द दवे गुजरात के ख्यातनामा साहित्यकार और चिन्तनशील लेखक हैं। 'शब्द-सत्य और शब्दातीत सत्य' पर आपके विचार निःसन्देह दिशाबोधक और व्यवहार्य हैं।
—सं० सम्पादक

अपने शब्द पर डटे रहने में एक शक्ति है। किन्तु अपने शब्द पर ही डटे रह जाना पामरता है। इस सत्य को श्रीकृष्ण से अधिक स्पष्टता से किसी ने नहीं दिखाया है। पांडवों की सबसे बड़ी बेड़ी थी उनके शब्द। शब्द से भी परे चमकने वाले सत्य को देखने की दृष्टि उनमें नहीं थी; इसी लिए महापराक्रमी होते हुए भी जीवन में उन्होंने बार-बार मार खायी और यदि श्रीकृष्ण से उन्हें शब्दातीत सत्य की दीक्षा न मिली होती, तो महा-अधर्मी शत्रुओं के हाथों उनका नाश हो जाता। मानो धर्मराज के ही हाथों मानव आत्मा के मूल और मुक्त धर्म का लोप हो जाता। श्रीकृष्ण ने ऐसा नहीं होने दिया। मानव जाति को उन्होंने यह सत्य जी कर दिखाया।

अर्जुन की प्रतिज्ञा थी कि जो कोई गांडीव की निंदा करेगा उसका मैं वध कर दूंगा। कर्ण से पराजित होकर युधिष्ठिर छावनी लौटे थे। बड़े भाई की कुशल पूछने अर्जुन दौड़ा चला आया। युधिष्ठिर ने सोचा कि अर्जुन कर्ण को जीत कर आया होगा। किन्तु जब उन्हें पता चला कि कर्ण तो अभी अपराजित है तो उनका दिमाग भन्ना उठा। एक तो कर्ण ने उनकी हँसी उड़ाकर उन्हें बहुत अपमानित किया था, और फिर घाव की पीड़ा से परेशान, वे अपनी सहज-संयत मनःस्थिति में नहीं थे। उन्होंने अर्जुन को फटकार दिया, "धिक्कार है तुम्हारे गांडीव को!"

अर्जुन को अपनी प्रतिज्ञा याद आ गयी। वह इस बात को भूल गया कि सामने कौन है और किस मनोवेदना से बोल रहा है। वह युधिष्ठिर का शिरच्छेद करने को झपटा। श्रीकृष्ण यदि बीच में न पड़ते, तो उस वचन-पालक महावीर का क्या होता! एक देवतुल्य अग्रज की हत्या कर के वह निश्चय ही दूसरे क्षण स्वयं भी आत्महत्या कर लेता। पहले तो ऐसी प्रतिज्ञाओं का ही कोई अर्थ नहीं होता, और फिर उनके पालन के लिए ऐसा हीन कृत्य करना तो निरी मूर्खता है। इस प्रसंग में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

त्वया चैवं व्रतं पार्थ
बालेनैव कृतं पुरा ।
तस्मादधर्मसंयुक्तं
मौर्ख्यात् कर्म व्यवस्यसि ॥
(महाभारत, कर्णपर्व)

कई बार जब हम ठंडे दिमाग से सोचते हैं, तो हमें यह प्रतीत हुए बिना नहीं रहता कि जैसे श्रीकृष्ण ने इस श्लोक में कहा है, है, हमारे बहुत सारे शब्द बालिशता पूर्ण एवं गलत आवेश में बह कर कहे हुए होते हैं। क्या ये शब्द ही जीवन भर के लिए बन्धन रहेंगे और जिसे हमारी अन्तरात्मा हमारा कर्त्तव्य कह कर पुकार उठे, वह गलत हो जायेगा ? धर्मभीरु लोगों के लिए यहां सूक्ष्म बुद्धि और जाग्रत विवेक-दृष्टि की बहुत जरूरत है। अर्जुन में ऐसी विवेक-दृष्टि नहीं थी। धर्मभीरु होते हुए भी, वह बुद्धिहीन ही था, ऐसा श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं। अन्यथा ऐसा हीन कार्य करने को वह कैसे तैयार हो जाता ? श्रीकृष्ण कहते हैं,

न हि धर्मविभागज्ञ
कुर्यादेवं धनंजय ।
यथा त्वं पांडवाद्येह
धर्मभीरुरपंडितः ॥
(महाभारत)

श्रीकृष्ण का यह कथन बहुत बड़ा है। मनुष्य को धर्मज्ञ ही नहीं, धर्म-विभागज्ञ भी होना चाहिए। ऐसा ज्ञान न हो, तो वही धर्म, जो मनुष्य को मुक्ति, आनन्द और साफल्य देने के लिए बना है, उसके लिए घोर बन्धन बन जाता है। वर्षों तक पांडव ऐसे ही शब्दों की कारा में छटपटाते रहे।

पांडवों की इस निर्बलता से कौरव अच्छी तरह परिचित थे। वे बड़े ही चतुर कानूनदां थे, कायदे की एक-एक धारा और एक-एक शब्द द्वारा विरोधी को पकड़ कर पटखनी खिलाते थे। अतुल पराक्रमी होते हुए भी धर्मभीरु और आदर्श-परायण पांडव उनके सामने असहाय थे। शकुनि ने धर्मराज को छल-बल से हराया और धर्मराज ने यह जानते हुए भी कि इसके पीछे क्या कारण और उद्देश्य था, इस को हार स्वीकार कर लिया। उनमें यह ताकत नहीं थी कि ऐसे अन्याय पूर्ण निर्णय को ठोकर मार देते।

कौरवों को पक्का भरोसा था कि द्यूत की भांति युद्ध में भी पांडव अवश्य मुँह की खायेंगे। भीष्म, द्रोण और कर्ण जैसे महारथी भयानक अस्त्रों का खुल कर प्रयोग करें अथवा शत्रु को छल-फरेब से मार डालें, जैसा कि अभिमन्यु के मामले में हुआ, तो भी धर्म की दुहाई देते ही पांडव ठंडे पड़ जायेंगे, यह बात कौरव अच्छी तरह जानते थे।

लेकिन एक व्यक्ति ने कौरवों का यह खेल धूल में मिला दिया। एक ऐसा पुरुषोत्तम

पांडवों का पक्षधर था, जिसने स्वयं शस्त्रहीन होते हुए भी कौरवों के सब शस्त्रों को निकम्मा कर दिया। ऐन वक्त पर पांडवों को वे पुरुषोत्तम शब्दों से भी ऊपर विराजने वाले सत्य पर ले गये और स्वयं सरासर अन्याय करते हुए भी हर कदम पर धर्म की दुहाई देते रहने वाले उन शब्दों पर शत्रुओं का संहार किया।

रथ का पहिया धंस जाने पर जब कर्ण अर्जुन को धर्म के लक्षण सिखाता है और धर्मज्ञ के कर्तव्य समझाने लगता है, तब श्रीकृष्ण उसके एक-एक अधर्म पूर्ण कृत्य की याद दिला कर उससे पूछते हैं, 'क्व ते धर्मस्तदा गतः?' तब तुम्हारा धर्म कहां चला गया था? यदि उस समय धर्म नहीं था, तो अब सिर्फ धर्म-धर्म की रट लगा कर तालु सुखाने से क्या फायदा?

यद्येव धर्मस्त न विद्यते हि किं
सर्वथा तालुविशोषणेन।

सत्यहीन, प्राणहीन, अर्थहीन शब्दों से ऊपर उठने का यह कितना बड़ा सामर्थ्य था श्रीकृष्ण में! धर्म के पाश को विछिन्न कर, धर्म के प्राण को विमुक्त करने की कैसी निर्भीक घोषणा थी यह सोचकर आज भी आश्चर्य होता है।

कहा जाता है युधिष्ठिर कभी असत्य नहीं बोले। किन्तु द्रोणवध के समय उन्होंने 'अश्वत्थामा हतः' इतना असत्य अवश्य कहा और इस कारण उनका रथ, जो कि जमीन से एक बालिश्त ऊपर चला करता था, जमीन से छु गया। सच तो यह प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण के कहने के अनुसार यदि धर्मराज 'अश्वत्थामा हतः' इतना कह कर चुप हो जाते, तो उनका रथ जमीन से एक बालिश्त और ऊपर उठ जाता। अन्तर्यामी श्रीकृष्ण के वचन को असंशय अपनाने के बजाय, वे 'नरो वा कुंजरो वा' कहते गये और इसी कारण उनका जीवन रथ नीचे उतर गया।

मानव-मन, परमात्म-प्रेरणा को नीति-अनीति के दायरे में बांधे बिना निर्भय और निःसंशय भाव से अपना नहीं पाता। भीतर का सत्यात्मा जो कहता है, उसे हम अपनी निर्बलता के कारण नीति के धागों में जितना ही पिरोते हैं, उतने ही गिरते हैं। युधिष्ठिर नीचे उतर आये; क्योंकि इस सत्य-प्रेरणा को वे सीधे अपना नहीं सके और उन्होंने उसे शब्दों में घेरने कोशिश की।

श्रीकृष्ण जैसा सामर्थ्य भला किसमें था! शस्त्र-ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा के बावजूद जब वे रथचक्र उठा कर भीष्म की ओर झपटते हैं, तब शब्दों के सकड़ों को छिन्न-भिन्न कर के सदाविमुक्त सत्य पुरुष के रूपमें कैसे प्रकाशवान हो उठते हैं! उस क्षण भीष्म पितामह भी हाथ जोड़कर उनका जो अभिनन्दन करते हैं, वह इसी सत्य के तेज के कारण ही तो! श्रीकृष्ण के मुखमंडल पर उस समय कैसा आलोक खेल रहा होगा! भीष्म जैसे भी उस

संस्कार भुगतान, तब और अब

● श्री केशव उपाध्याय

'अब' से हमारा तात्पर्य आपके उस समय से है, जब आप को श्री प्रभुजी के चरण-कमलों का आश्रय नहीं मिल पाया था तथा पूर्व में किये गये कर्मों के परिणामस्वरूप जो फल भोगना पड़ता है उसे संस्कार भुगतान कहते हैं। यद्यपि उपरोक्त विषय बड़ा ही कठिन है। क्योंकि काल-चक्र, युग-चक्र और जग-चक्र को एक साथ चलाने वाले परम योग योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र जी ने स्वयं अपने मुखारविन्द से कहा है कि "कर्मणो गहनो गतिः" कर्म की गति बड़ी ही गहन है। इस विषय को परम आध्यात्मिक विद्वान भी भली प्रकार से नहीं समझ सके—तब मैं इस विषय पर मैं लिख ही क्या सकता हूँ। फिर भी अपने आराध्यदेव के युगल चरणों में कोटिशः प्रणाम के बाद, दो संस्कार भुगतान की घटनाओं द्वारा तब और अब का अन्तर समझाने का प्रयत्न कर रहा हूँ। जो संस्कार; संसार के

(पिछले पृष्ठ का शेष)

के दर्शन से मुक्त हो जाते हैं। इनमें यदि कायरता या कुटिलता होती, तो क्या यह संभव था!

श्रीकृष्ण यह अच्छी तरह जान गये थे कि पांडवों पर शब्दों का कितना जबरदस्त बन्धन है। और महाभारत के युद्ध में प्रत्येक विकट प्रसंग पर उन्होंने यह बन्धन तोड़ डाला। श्रीकृष्ण का स्पष्ट दर्शन है कि सत्य और धर्म शब्द में कैद नहीं हो सकते। इसी लिए शाब्दिक रूप से सत्य और धर्म का उल्लंघन करने के बावजूद वे सत्य प्रतिष्ठ और धर्म-निष्ठ रहे। परीक्षित को जिलाते समय श्रीकृष्ण कहते हैं—

यथा सत्यं च धर्मश्च
मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ।
तथा मृतः शिशुरयं
जीवतादभिमन्युजः॥
(महाभारत, आश्वमेधिक पर्व)

—जैसे सत्य और धर्म मुझ में निरन्तर स्थिर रहे हैं, उसी तरह अभिमन्यु का यह मृत बालक सजीव हो उठे।

इन शब्दों से श्रीकृष्ण ने केवल परीक्षित को नहीं, अपितु परि+ईक्षित को अर्थात् मात्र शब्दों की पिटारी में बन्द न हो कर चारों चारों ओर से जीवन को देखने और स्वीकारने वाले सत्य को भी पुनर्जीवन प्रदान किया। ●●

अन्य जीवधारियों को भुगतान में बहुत ही कष्टदायक होते हैं, उन्हें अपने बच्चों के ऐसे संस्कार श्री प्रभुजी जितनी विषम परिस्थियों में भी अति सरल तरीके से भुगतान करा देते हैं। हमारे आराध्यदेव श्री प्रभुजी अपने योग-प्रचार कार्यक्रमों में अपने मुखारविन्द से स्वयं कहा करते हैं कि प्राणीमात्र को अपने संस्कार का भुगतान करना ही पड़ेगा। आनन्दकन्द श्री महाप्रभु जी को इंगित कर के वे उपदेश दिया करते हैं कि इनकी बात तो निराली है इनके किसी बच्चे के ऊपर कठिनाइयों का पहाड़ गिरने का संस्कार है, जो काफी वजन का है, तो वह पहाड़ अवश्य गिरेगा ही, परन्तु उसका वजन उसी पहाड़ के आयतन की रुई के बराबर होगा। अर्थात् साधारण परिस्थिति में यदि पत्थर का पहाड़ गिरता तो वह चकनाचूर हो जाता परन्तु रुई का पहाड़ गिरने पर, गिरने से पूर्व उसका आयतन देख कर उसे डर (भय) भले ही लगता रहे, परन्तु गिरने के बाद वह अनुभव करता है कि मैं नाहक ही परेशान हो रहा था—यह पहाड़ तो रुई का था। कभी-कभी वे करुणा-सागर अपने पास आने वाले रोगी एवं दुखी प्राणियों का रोग या कष्ट स्वयं अपने शरीर पर लेकर उसका भुगतान स्वयं कर दिया करते हैं। सोने-चांदी के व्यापार में दलाली का काम करने वाले श्री मानिकचन्द के भयंकर रोग का भुगतान उनकी धर्मपत्नी की प्रार्थना पर द्रवीभूत होकर श्री महाप्रभु जी ने यह कहकर स्वयं पर ले लिया था कि अरे मानिकचन्द! ला तेरे कष्ट का भुगतान अब हम स्वयं अपने शरीर से कर दें, क्योंकि यदि यह रोग अब तेरे पास रहा तो तीन दिन के अन्दर ही तू चल बसेगा। यहां संस्कार-भुगतान की दो घटनाओं का वर्णन मैं लिपिबद्ध करने जा रहा हूं। पहली घटना परम भागवत् भक्त सदन कसाई के एक संस्कार भुगतान से सम्बन्धित है।

यद्यपि श्री सदन जाति के कसाई थे, जीव-वध करना ही इनके परिवार के भरण-पोषण का एक मात्र साधन था, परन्तु सदन इतने दयालु थे कि इन्होंने अपने हाथ से किसी भी जीव का वध नहीं किया। यह कसाइयों के यहां से थोक मांस ले आते तथा उसे फुटकर भाव पर बेच देते थे। जो थोड़ा बहुत कमाई बन वाली थी, वही इनके परिवार-पालन का सहारा रहती। किम्वदन्तियां हैं कि इनके मांस तौलने के बाट में, जो पत्थर का था, उसमें स्वयं भगवान शालिग्राम विद्यमान थे। समय आने पर इन का महान आध्यात्मिक उत्थान हुआ। भगवद् प्रेम का रस इनके ऊपर पूर्ण रूपेण छा गया। वे भगवत-प्रेम में ओत-प्रोत होकर उन्हीं के ध्यान में इधर-उधर भ्रमण किया करते थे। इनका शरीर बड़ा ही गठीला, स्वस्थ एवं

मनोहर था। एक बार अपनी इसी आध्यात्मिक मस्ती में वह जा रहे थे कि एक राज घराने की युवती ने उन्हें आवाज दी। वे जब उसके पास गये तो उसने कहा कि तुम हमारे साथ रहो। जब उन्होंने इन्कार किया तो उस ने विनय पूर्वक कि कहा कि महात्मन्! सायंकाल हो गया है, आज रात को यहीं रुक जाओ, प्रातः चले जाना। श्री सदन ने उसकी बात मान ली एवं रात को वहां रुक गये। आधी रात को वह तरुणी उनके पास गयी एवं उसने, उनसे अपनी काम-वासना पूर्ति की बात कही। श्री सदन ने कहा, बहन मैं ऐसा नहीं कर सकता। तरुणी ने सोचा,शायद यह हमारे पति के भय से कतरा रहा हो, वह तत्काल उनके यहां से उठी एवं अपने पति का सिर उसके धड़ से अलग कर, उसके रक्त रंजित सिर को उसके (सदन के) पास रखकर बोली, लो कंटक साफ कर दिया। अब हम तुम दोनों निर्विघ्न संसार का आनन्द लेंगे।

श्री सदन कसाई ने उसके मुँह से जब ऐसी बात सुनी तो उन्हें महान कष्ट हुआ। उन्होंने कहा कि बहन! तूने यह क्या किया! श्रीसदन इतना कहकर जोर-जोर से रात के अन्धेरे में भगवत नाम का जप करने लगे। मामले को अपने विपरीत जाते देख वह अपने पति का सिर हाथ लिये बैठक में चली गयी, एवं जोर-जोर से चिल्लाकर रोते हुये कहने लगी कि इस कपटी साधु ने मेरे साथ दुराचार करना चाहा, जब मैंने इनकार किया तो इस ने मेरे पति की हत्या कर दी। रात को सभी पड़ोसी एकत्र हो गये, सभी ने अनेक प्रकार से श्री सदन को मारा पीटा, गालियां दी एवं बांध कर रखा। सबेरे श्री सदन को न्यायालय में कत्ल के केस में उपस्थित किया गया। उस समय न्याय मिलने में इतनी देर नहीं होती थी, जितनी आजकल होती है। ईश्वर कृपा से कत्ल का केस साबित नहीं हो सका परन्तु तरुणी के इस बयान पर कि मेरे से इसने दुराचार करने का प्रयत्न किया है, न्यायाधीश ने आदेश दिया कि अपराधी के दोनों हाथ काट दिये जांय। श्री सदन के दोनों हाथ काट दिये गये। हाथ कट जाने पर भी सदन भगवत नाम का जप बराबर कर रहे थे। न्यायालय में एकत्र जन समुदाय अनेक प्रकार से उपहास करता रहा कि क्या अच्छा रूपक बनाया है, रात को स्त्रियों की इज्जत लूटता है और इस समय भगवान का नाम लेता है, श्री सदन के दोनों हाथ काट दिये गये पर वे कटे हाथ भगवान का नाम लेते आगे बढ़ गये। उन्हें हाथ कटने से बड़ा ही कष्ट हो रहा था। रात्रि विश्राम के लिए वे एक वृक्ष नीचे रुके। और बराबर मन्त्र जप कर रहे थे, रात के तीसरे पहर उन्हें कुछ नींद का आभास हुआ। उसी समय उन्हें आकाशवाणी सुनाई दी —

सज्जन ! यह तुम्हारे पिछले जन्म के पाप का प्रायश्चित्त है। पिछले जन्म में यह औरत गाय थी, इसका पति कसाई था। कसाई गाय को पकड़ कर वध करने ले जा रहा था। गाय कसाई के हाथ से छूट गयी और उसने भागना आरम्भ की। उसी रास्ते पर जिस पर गाय भाग रही थी, कसाई उसका पीछा कर रहा था, तुम भी किसी कार्य से कहीं जा रहे थे। उस समय तुम अपनी नौजवानी में थे। कसाई ने आवाज लगायी, पकड़ो-पकड़ो गाय छुड़ाकर भाग रही है। तुम ने उसकी आवाज सुनी और यह जानते हुये कि, यह कसाई गाय को वध करने के लिये ही ले जा रहा है, तुमने दौड़कर अपने दोनों हाथ उसके गले में डालकर पकड़ लिया तथा उसे कसाई को पकड़ा दिया। आज तुम्हारे जो दोनों हाथ कटे हैं, यह उस गाय को पकड़ने की वजह से ही कटे हैं। पिछले जन्म के तुम्हारे उस संस्कार का भुगतान इस जन्म में आज हो गया है।

देखिये, कितना सही भुगतान है, कसाई ने गाय का वध किया तो नारी रूप धारी गाय ने पति रूप धारी कसाई का वध किया। सज्जन ने अपने दोनों हाथों से पकड़ कर गाय को सुपुर्द किया था तो उनके दोनों हाथ काट डाले गये। यह भुगतान है जैसा किया वैसा पाया।

अब सूक्ष्म भुगतान की बात आप से निवेदित करना आरम्भ कर रहा हूं। ब्रह्मचारी श्री गोपालानन्द जी हमारे दादा गुरुदेव जी के कृपा-पात्र शिष्य रहे हैं। यह घटना हम लोगों के आराध्य श्री सद्गुरुदेव भगवान ने स्वयं अपने मुखारविन्द से बतलायी है। घटना स्थल शायद ऋषिकेश आश्रम ही है।

श्री ब्रह्मचारी जी, श्री महाप्रभु जी के प्रयोग के लिये जल निकालने कुयें पर गये। उन्होंने पात्र को रस्सी में फँसाया और घिर्री के सहारे उसे कुएँ में लटकाया। पात्र में जल भर जाने पर, उन्होंने जब खींचना आरम्भ किया तो अचानक रस्सी टूट गयी और जल दो लोहे के खम्भों से जिसके सहारे घिर्री लगायी गयी थी, चोट लगकर ब्रह्मचारी जी के दोनों हाथ बुरी तरह कटकर लहू-लुहान हो गये। उन्हें मूर्छा भी आ गयी। आश्रम में उपस्थित सभी साधक घटनास्थल पर एकत्र हो गये। सूचना श्री महाप्रभु जी के श्री चरणों में पहुँच गयी। वे दयानिधान भी घटना-स्थल पर आ गये। उन्होंने उपचार बतलाया, उपचार किया गया एवं कुछ ही दिनों में उनका हाथ ठीक हो गया। उस समय आश्रम में उपस्थित सभी साधकों की ध्यान-स्थिति बड़ी ऊँची थी। सभी ने एक स्वर से प्रार्थना की, कि प्रभो ! श्री ब्रह्मचारी जी का हाथ कटा तो क्यों कटा ? पहले तो लीलाधारी ने कहा, मैं क्या जानूं, ब्रह्मचारी का हाथ क्यों कटा !

परन्तु साधकों की बार-बार की प्रार्थना पर द्रवीभूत होकर वे दयानिधान बोले, ध्यान में क्यों नहीं देख लेते हो कि ब्रह्मचारी का हाथ क्यों कटा। उनके आदेशके पालनार्थ जिज्ञासा-वश कुछ साधक तत्काल ध्यान में बैठ गये। साधकों ने जो कुछ ध्यान में देखा, उसका सारांश इस प्रकार है :

साधकों ने देखा कि श्री ब्रह्मचारी जी अपने पूर्व जन्ममें वृन्दावन धाम निवासी ब्राह्मण थे। उनकी पत्नी बहुत ही खूबसूरत एवं सुलक्षणा औरत थी। पुरोहित पेशा उनका कर्म था। मामूली खेती-बारी भी थी। यद्यपि श्री ब्रह्मचारी जी की धर्मपत्नी महान पतिव्रता थी परन्तु उसके सुन्दर होने के नाते वे प्रायः हमेशा चिन्तित रहा करते थे कि मेरी पत्नी दूसरे पुरुष से गलत सम्बन्ध न स्थापित कर ले। इसी भय से वे अपनी पत्नी को अकेला नहीं छोड़ना चाहते थे। जिसनाते उसकी चौकदारी भली प्रकार किया करते थे। साधारण यजमानों का निमन्त्रण भी वे इसी शंका से छोड़ दिया करते थे। परन्तु धन के लालच में बड़े यजमानों का निमन्त्रण मानना ही पड़ता था, जब उन्हें धनी यजमानोंके यहां निमन्त्रण पर जाना पड़ता तब वे, अपनी औरत को इतना गूढ़ कार्य बतलाकर जाते कि जब तक वे लौटकर न आ जायं बेचारी व्यस्त ही रहे। वे सोचते थे कि न गूढ़ कार्य से खाली होगी और न किसी से बात करेगी। यदि गूढ़ का कार्य पूरा न होता तो वे जब लौटकर आते थे, उसे अनेक प्रकार के अपशब्द कह कर प्रताड़ित किया करते थे।

संयोग कुछ इस प्रकार का बना कि एक दिन उनको एक बहुत ही धनी यजमान के यहां से निमन्त्रण आया। यजमान ने प्रार्थना की कि आप थोड़ा पहले ही आ जावें। पुरोहित जी परेशानी में पड़ गये। पैसे के लालच में जाना तो था ही। पंडित जी ने अपनी औरत को इतना गूढ़ कार्य नोट करा दिया, जितना कि वह दो दिनमें शायद ही निपटा सके, उनके कार्यों में एक कार्य गायके लिये चारा काटने का भी था। पंडित जी यजमान के घर गये, जल्दी-जल्दी सारा पूजा-पाठ का कार्य समाप्त करने लगे परन्तु कर्मकांड में समय तो लगता ही है, पंडित जी को सात-आठ घंटे लग ही गये। पूजन समाप्त कर अपनी पोथी तथा पूड़ी बांध कर पंडित जी अपने घर को चलते बने। इधर उनकी सुलक्षणा और महान पतिव्रता धर्मपत्नी ने बिना क्षण भर भी आराम किये, अपनी जी तोड़ कोशिश की, कि अपने पतिदेव द्वारा आदेशित सभी कार्य पूर्ण कर लूं, परन्तु नहीं हो पाया। उसने सारे कार्य तो प्रायः निपटा दिये थे केवल गौ के लिये चारा काटने का कार्य बाकी था। इतने में पंडित जी घर आ गये। आते ही प्रश्न

किया, क्यों घर का सारा कार्य तू ने निपटा दिया ? पत्नी ने प्रार्थना की कि पति देव, और सारा कार्य तो निपटा दिया है, केवल गौ के लिये चारा काटने का कार्य शेष है। पंडित जी को शंका हो गयी कि अवश्य ही यह कहीं न कहीं गयी होगी। उन्होंने पोथी-पुस्तक रखी और कहा कि चारा मैं काट देता हूँ। उन्होंने गड़ासा उठाया, अपने कुएँ की जगह पर जो उनके दरवाजे पर था, अपनी औरत के दोनों हाथ रखे और जब तक उनकी स्त्री यह प्रश्न करती है कि पतिदेव यह क्या कर रहे हो, पंडितजी ने पतिव्रता के दोनों हाथ काट दिये। पतिव्रता का हाथ काट कर पंडित जी कहीं छिप गये। दर्द से परेशान बेचारी कराहती रही और गर्मी तथा बेहोशी की हालत में कुएँ में गिरकर मर गयी। यह था ब्रह्मचारी जी के पूर्व जन्म का संस्कार जिसका भुगतान उनका हाथ कटने तथा गर्मी घाव से श्रीमहाप्रभु ने करा दिया।

अब जरा दोनों संस्कार भुगतान की घटनाओं का तुलनात्मक विवेचन करने का कष्ट करें। यदि ठीक प्रकार से संस्कार का भुगतान होता तो श्री ब्रह्मचारी जी को हाथ कटने के बाद कुएँ में गिरकर शरीरान्त करना था। परन्तु हाथ कटना भी उनके पूर्व संस्कार की तुलना में कम हुआ तथा वह भी कुछ दिनों में पूर्ण रूपेण ठीक हो गया। यह था महाप्रभु जी की कृपा से संस्कार का सूक्ष्म में भुगतान।

ऐसी है विलक्षणता, हमारे 'सिद्धयोग' दरबार में संस्कार के भुगतान की। एक नहीं अनेक, सैकड़ों, हजारों की बात कौन करे, लाखों उदाहरण आप को सूक्ष्म में संस्कार भुगतान के इस दरबार में दृष्टिगोचर हो जावेंगे, यदि ध्यान से आप इसका अन्वेषण करें। हमारे दादा गुरुदेव जी तथा हमारे आराध्य श्री सद्गुरुदेव जी महाराज, दुखियों के कठिन संस्कार का भुगतान सूक्ष्म से सूक्ष्म विधि से करा रहे हैं। यदि इन कठिन संस्कारों का भुगतान वे ठीक प्रकार स्थूल से कराने लगें तो सबका बंटाधार हो जाय। अपनी अल्प बुद्धि से दोनों संस्कार भुगतान की घटनाओं के अन्तर को समझने तथा समझाने का प्रयत्न किया गया है। यदि लेख में कोई त्रुटि रह गयी हो, तो 'सिद्धयोग' के सुयोग्य पाठकों से प्रार्थना है कि उसे क्षमा करने की कृपा करें।

× × × ×

अब, अपने आराध्यदेव श्री प्रभु जी के युगल चरणों में कोटिशः साष्टांग प्रणाम के साथ लेख को यहीं विश्राम देना उचित समझता हूँ, इस विनय के साथ कि करुणाघन कृपा सदैव बनाये रहें।

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

मोक्षः कर्मक्षयादेव स आत्मज्ञानतो भवेत् ।
ध्यान साध्य मतं तच्च तद्ध्यानं हितमात्मनः ॥

अर्थात्—मोक्ष कर्मक्षय होने से, कर्मक्षय आत्म ज्ञान से, आत्म ज्ञान ध्यान से प्राप्त होता है अतः ध्यान ही आत्मा का हितकारी है ।

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्म शुद्धये ।

अर्थात्—कर्मयोगीजन केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा भी आसक्ति को त्यागकर अपनी शुद्धि के लिए (आन्तरिक शुद्धि) के लिए कर्म करते हैं।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

अर्थात्—कर्मयोगी कर्म फल को छोड़कर कर्म निष्ठा से उत्पन्न होने वाली (नैष्ठिकी) शान्ति को प्राप्त कर लेता है। सकाम पुरुष कर्मफल में आसक्त होकर कामना द्वारा बन्धन को प्राप्त होता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

अर्थात्—वास्तव में परमात्मा लोगों के कर्तृत्व (कर्तापन) अथवा कर्म समूहों अथवा कर्म फलों के साथ संयोग की रचना नहीं करता। स्वभाव (अपना भाव) ही सब कुछ कराता है।

वास्तव में आत्मा कर्ता नहीं स्वभाव ही कर्त्ता आदि है। और मनुष्य के स्वभाव में प्रकृति ही जड़ रूप से स्थित रहती है। आत्मा साक्षीभूत निर्विकार एवं निष्क्रिय होता है। प्रकृति के आवरण से युक्त होने से जीवात्मा में कर्त्ता अथवा भोक्ता होने की प्रतीति होती है।

अश्वमेध सहस्राणि वाजपेय शतानि च ।
एकस्य ध्यान योगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम ॥

अर्थात्—एक सहस्र अश्वमेध यज्ञ तथा एक सौ वाजपेय यज्ञ ध्यान योग की एक कला के भी समान नहीं है। ध्यानयोग मनुष्य को परमात्मा के साथ एकाकार कर देता है।

श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि ।

अर्थात्—श्रेय यानी भलाई के अथवा कल्याण के कार्यों के सम्पादन में महापुरुषों को भी विघ्नों का सामना करना पड़ता है।

नासनं सिद्ध सदृश न कुम्भ सदृशं बलम् ।
न खेचरी समा मुद्रा, न नाद सदृशो लयः ॥
—शिव संहिता

अर्थात्—सिद्धासन के समान कोई आसन नहीं है। कुम्भक के समान कोई बल नहीं है, खेचरी के समान कोई मुद्रा नहीं है। और नाद के समान कोई लय नहीं है।

सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रिय निग्रहः ।
सर्वभूत दयातीर्थं तीर्थमार्जवमेव च ॥

अर्थात्—सत्य क्षमा इन्द्रिय निग्रह, प्राणियों पर दया, आर्जव (सरलता) यह सब तीर्थ यानी संसार से तारने वाले होते हैं।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

अर्थात्—हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाता के सकाश से यह मेरी माया चराचर सहित सब जगत् को रचती है और इस ऊपर कहे हुए हेतु से ही यह संसार आवागमनरूप चक्र में घूमता है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

अर्थात्—ऐसा होने पर भी सम्पूर्ण भूतों के महान् ईश्वर रूप मेरे परमभाव को न जानने वाले मूढ़ लोग, मनुष्य का शरीर धारण करने वाले मुझ परमात्मा को तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमाया से संसार के उद्धार के लिए मनुष्य रूप में विचरते हुए को साधारण मनुष्य मानते हैं। ६६

श्री सदगुरु–वन्दना

• श्री विष्णुदेव व्यास

कर में लेकर लेखनी, नयनन में कर ध्यान ।
चरण-कमल में शीश धर, मांगू यह वरदान ॥
रामलाल प्रभु करि कृपा, दीजे बुद्धि-विवेक ।
गुण तुम्हार वर्णन करूँ, लेकर तुम्हरी टेक ॥

गुरु-गुण अमित अपार हैं, दीसत आदि न अन्त ।
महिमा अगम अगाध है, विरला जानै सन्त ॥
जग-जग तारनहार हो, लोकोत्तर अभिराम ।
विश्व वन्द्य आनन्दघन, क्षमाशील सुखधाम ॥

जिनके प्रखर प्रताप से, रवि देता है ताप ।
धरा उगलती अन्न है, विधु हरता सन्ताप ॥
ऐसे मेरे परम गुरु, संकट मोचनहार ।
भव-निधि विषम अगाध से, देते कर उद्धार ॥

करुणा सिन्धु दयानिधे ! शरणागत प्रतिपाल ।
सकलकला भरपूर हो, दाता प्रभु रामलाल ॥
सतत करूँ मैं वन्दना, चरण–युगल धरि शीश ।
प्रभु अघनाशक ईश हैं, वरदायक जगदीश ॥

निराकार निर्गुण प्रभुजी, भक्त जनन के काज ।
सन्त रूप को धार कर, प्रकटे विश्व-समाज ॥
श्री पद नख स्मरण से, उघरत नयन विवेक ।
गोप गोपिका गाय ने, पाई पदरज–टेक ॥

रावण के अभिमान को, चूर करन के हेतु ।
रोपा पग दरबार में, अंगद कपिकुल केतु ॥
कुम्भकर्ण से शूरतक, गये सकल बल हारि ।
एक इंच की भूमि भी, कोई सका न टारि ॥

रघुकुल भूषण राम के, चरण कमल का ध्यान ।
अंगद की निष्ठा निरख, रिपु दल था हैरान ॥
श्री चरणामृत पान कर, निखिल ताप नसि जात ।
चित्त प्रफुल्लित होत है, अंग-अंग सिहरात ॥

परम मृदुल श्री चरण हैं, पाप नाशिनी रेणु ।
वरदायक करकमल हैं, वचनावलि सुर-धेनु ॥
गति मराल सम चारु है, अति सुन्दर शुचि भाल ।
शशि समान मुख शान्ति प्रद, चितव करत निहाल ॥

नत शिर हो वन्दन करूँ, श्रद्धा सुमन चढ़ाय ।
दीनबन्धु श्री रामलला, कृपा-दृष्टि होजाय ॥
मेरे प्राणधार हो, त्रिभुवन पालक देव ।
'विष्णु व्यास' यह चाहते, करें निरन्तर सेव ॥

❀ ध्यान के लिये चित्त शुद्धि ❀

बहुत-से लोग चित्त के मल शुद्ध किये बिना ध्यान की, एकाग्र होने की, कोशिश करते हैं, तो चित्त दौड़ता है। जैसे हम भगवान की पूजा के लिए बैठते हैं, तो स्नान करके बैठते हैं, बिना स्नान किये बैठते नहीं। वैसे ध्यान के पहले चित्त का स्नान होना चाहिए। तब ध्यान सधेगा। जब तक चित्त शुद्ध हुआ नहीं, तब तक ध्यान सधता नहीं, यह हमारे लिए अच्छी बात है, लाभदायी है। क्योंकि तब चित्त शुद्ध करने के लिए हम प्रयत्नशील रहेंगे और धीरे-धीरे चित्त शुद्ध होगा।

चित्त शुद्ध हुए बिना ध्यान सधा, और सध भी सकता है किसी को तो उसके परिणाम भयानक आयेंगे। उससे नुकसान पहुँचेगा, अपने को भी और दुनिया को भी। जैसे रावण ने शिवजी का ध्यान किया था। उसे साक्षात्कार हुआ और उसने क्या मांग लिया? ऐसा वर मांग लिया, जिससे उसका भी और दुनिया का भी नाश हुआ। इसलिए चित्तशुद्धि के बिना ध्यान सध भी जाये, तो लाभदायी नहीं होगा।

तीव्र संकल्पशक्ति हो तो चित्तशुद्धि के बिना भी ध्यान सधता है, इसकी आधुनिक मिसाल देता हूं। जिसने आणविक अस्त्र का सूक्ष्मशोध किया, वह अत्यंत एकाग्र हुआ था। उसका वह पूर्ण ध्यान था। अन्यथा इतने सूक्ष्म शस्त्र की खोज नहीं होती। इस वास्ते पूर्ण ध्यान से संहारक शस्त्र की खोज की। क्योंकि बलवान संकल्प था। बलवान संकल्प के कारण चित्तशुद्धि हुए बिना भी एकाग्र हो गया। परंतु उस शस्त्र से दुनिया का नाश होगा। रावण का उदाहरण पौराणिक है, इसलिए वह काल्पनिक भी हो सकता है। ऐसा आधुनिक चित्त को लग सकता है, इसलिए अणुशक्ति की खोज करने वाले का आधुनिक उदाहरण दिया। उस पर से ध्यान में आता है कि चित्त शुद्धि के बिना भी दृढ़ संकल्प शक्ति से ध्यान सधेगा, पर ऐसा सधने से लाभ नहीं नुकसान है। — आचार्य विनोबा

ध्यान-एक जीवन्त अनुभव

श्री विष्णुप्रसाद व्यास

ध्यान एक जीवन्त अनुभव है। इस अनुभव को दर्शन भी कह सकते हैं। इस शब्द से हम सभी परिचित हैं। दर्शन एक आन्तरिक दृश्य है। परन्तु निश्चय ही वह मानसिक अनुभव से भिन्न है। जब साधक को यह आन्तरिक दर्शन उपलब्ध होता है तो उस समय गहन ध्यान की अवस्था में भी वह उतना ही सजग रहता है जितना जागृत अवस्था में। इसलिये ध्यान को जीवन्त अनुभव कहा जाता। राजयोग में महर्षि पतंजलि लिखते हैं—'जब निरन्तर योगाभ्यास द्वारा मन की शक्तियों को नियन्त्रित किया जाता है तो चेतना की उच्च अवस्था की अभिव्यक्ति होती है जिसे ध्यान कहते हैं।' चूँकि हम किसी न किसी रूप में योगाभ्यास करते हैं इसलिये हमें यह जानना आवश्यक है कि ध्यान कैसे करें। आँखें मूंद कर बैठ जाना और मन को उसके विषयों से खींचना—यह ध्यान नहीं कहलाता। अपने अनुभव और अध्ययन से हमने यह जाना है कि ध्यान की अवस्था चेतना की रचनात्मक स्थिति है जो साधक के न केवल मानसिक अनुभवों को अपितु उसकी प्रकृति तथा समूचे व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। ध्यान द्वारा व्यक्तित्व में होने वाले परिवर्तन अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, अतः ध्यान की कुछ पूर्व आवश्यकतायें हैं।

भले ही आप धर्म अथवा राजयोग को ध्यान का आधार बनायें, यह अत्यन्त आवश्यक है कि ध्यान के लिये एक इष्ट अथवा लक्ष्य हो। तभी चेतना की यात्रा सम्भव होती है। ध्यान सगुण हो या निर्गुण, इस विषय पर बहुत समय से विवाद चलता आया है। अनेक लोग जो अन्तिम सत्य को निर्गुण मानते हैं, ध्यान के लिये लक्ष्य अथवा इष्ट निर्धारित करने में आपत्ति करते हैं। उनका तर्क है कि यदि सर्वोच्च चेतना निराकार है तो उसे साकार लक्ष्य के माध्यम से प्राप्त करने में क्या तुक है? चाहे सर्वोच्च चेतना का जो भी स्वरूप हो आध्यात्मिक प्रगति को निरन्तर गतिशील रखने के लिये सगुण ध्यान आवश्यक है।

जब ध्यान में चेतना अन्तर्मुखी होती है तो सर्वत्र गहन अन्धकार दीखता है, न तो कोई संबल और नहीं कोई रास्ता बताने वाला होता है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि हम आगे बढ़ रहे हैं, रुक गये हैं,

अथवा पीछे हट रहे हैं। यह भी पता नहीं चलता कि हमारी चेतना का आध्यात्मिक रूपान्तरण हो रहा है अथवा वह जड़ता को प्राप्त हो रही है। जब तक ध्यान की अवस्था में आपका प्रतीक अथवा इष्ट रूप से आपके अर्न्तचेतन अथवा अचेतन स्तर पर विद्यमान रहेगा—आपकी चेतनाके रूपान्तरण के विभिन्न स्तर सही मार्ग पर घटित होंगे। जैसे ही प्रतीक का लोप होता है आप भटक जाते हैं तथा आपको पुनः उसी बिन्दु पर लौटना पड़ता है जहां से आपने अपनी साधना का शुभारंभ किया था।

महर्षि पतंजलि ने अपने योग सूत्र में पांच प्रकार के अभ्यासों का उल्लेख किया है तथा साधकों को उनमें से किसी को भी चुनने की स्वतंत्रता प्रदान की गयी है। प्रथम तो आप प्रकाश पर ध्यान कर सकते हैं जो आपको दुःख से परे ले जाता है और आनन्द का अनुभव कराता है। इस प्रकाश की कल्पना भ्रूमध्य में की जा सकती है। हृदय के पास अनाहत चक्र में भी इसकी कल्पना कर सकते हैं, यह एक प्रतीक अथवा विचार होता है। जब नाम तथा रूप, देश और काल का अतिक्रमण होता है और कुछ क्षणों के लिये ऐसा लगता है कि सभी कुछ शून्य हो गया है, तब यह प्रकाश चेतना के विस्तृत क्षेत्र में मार्ग बनाता है। हमारे व्यक्तित्व एवं चेतना के रूपान्तरण के विभिन्न स्तरों पर यह हमारा पथ-प्रदर्शन करता है। यदि आंख बन्द करते ही स्वतः स्फूर्त रूप से भ्रूमध्य में प्रकाश के दर्शन न हों तो अपने सामने दीपक रख लें और त्राटक का अभ्यास करें। कुछ मिनटों के बाद आंखें बन्द कर भ्रूमध्य में प्रकाश की कल्पना करें। आप ध्यान के लिये प्रतीक के रूप में उन महापुरुषों में से किसी एक को भी चुन सकते हैं, जिन्होंने माया के साम्राज्य का अतिक्रमण किया है। जो कर्म तथा त्रिगुण से ऊपर उठ गये हैं और जिन्होंने चेतना के सर्वोच्च शिखरों की यात्रा की है। ऐसे संत पुरुषों को ध्यान का विषय बनाया जा सकता है। जब आप किसी संत पर ध्यान करते हैं तो आप अपने भीतर उनके प्रकाशमान चेतन व्यक्तित्व को विकसित करते हैं जो आगे चलकर ध्यान और समाधि की प्राप्ति में सहायक होता है।

राजयोग का चतुर्थ सोपान "प्राणायाम" है। यह भी ध्यान की उच्च अवस्था की प्राप्ति में सहायक होता है। देखने में प्राणायाम स्थूल लगता है परन्तु बात ऐसी नहीं है। जब सही तरीके से इसका अभ्यास किया जाता है तो निश्चय ही इससे बड़े लाभ होते हैं तथा प्रत्याहार की अवस्था प्राप्त होती है। प्राणायाम मन को स्थिर करता है। उसे अपने विषयों से खींचता है तथा साधक को गहन ध्यान में ले जाता है।

ध्यान चतुर्थ महत्व पूर्ण अभ्यास "चतुर्थ प्राणायाम" के नाम से जाना जाता है। इस में प्रत्येक श्वास-प्रश्वास को अलग-अलग उस सहज गति और ताल में देखा जाता है। इसके बाद उसे सामान्य से और अधिक गहरा करते है। यदि ध्यानयोग का साधक २४ घण्टे निरन्तर चलने वाले सहज श्वास-प्रश्वास की चेतना के साथ प्राण शक्ति को संयुक्त करे तो समाधि की अवस्था अपने आप प्राप्त होती है। महायोगी गोरखनाथ कहते है कि आप निरन्तर चलने वाली श्वास-प्रक्रिया के प्रति इस तरह सजग रहें कि आपकी चेतना "सोहं-सोहं" करती रहे तो आपके भीतर आंतरिक सजगता स्वयं को प्रगट करेगी यह एक प्रकार से चेतना विस्फोट होगा। इस दृष्टि से चतुर्थ प्राणायाम का अभ्यास बहुत महत्वपूर्ण है। अतएव बौद्ध साधक तथा ध्यान के अन्य साधक इसका अभ्यास करते है। उनका कहना कि श्वास चेतना की ऊपर नीचे गति का संकेत है। श्वास तथा उसकी चेतना का एकीकरण आवश्यक है। जब साधक शांति पूर्वक इन दोनों की ताल, लयबद्ध गति को देखता है तो सहज ही ध्यान में पहुँच जाता है। ध्यान अनुभवों की शृंखला है और इस तरह एकाग्रता है। अतः एक श्वास-प्रश्वास की गति की चेतना एक शक्तिशाली तरीका है। विशेषकर से तब जब वह सामान्य से कुछ अधिक लम्बी तथा गहरी होती है। तभी साधक की चेतना सुषुम्ना नाड़ी खोजती है।

जब सुषुम्ना जागृत होती है तो समस्त बाह्य अवरोध समाप्त हो जाते है तथा चंचल मन सुन्दर अतीत का अनुभव मात्र रह जाता है। हमें साधना में अक्सर असफलता हाथ लगती है क्योंकि हम अपना बहुमूल्य समय मन के साथ लड़ने में नष्ट कर देते है। हम इस भ्रान्त धारणा के शिकार है कि हम मन पर विजय प्राप्त कर लेंगे। यह असंभव बात है। मन से मुक्ति का उपाय उसका एक मात्र अतिक्रमण है। लड़कर उसे परास्त नहीं किया जा सकता। भले ही आप अपना पूरा जीवन मन से लड़ने में खर्च कर दे और जब मृत्यु के निकट पहुँचेंगे, तो संभवतः यही कहेंगे—"कोई बात नहीं, मैं तुम से लड़ने फिर आऊंगा।" परन्तु जो बुद्धिमान लोग है उन्होंने मन से निपटने के लिये उसके अतिक्रमण का रास्ता पकड़ा है।

अब प्रश्न यह उठता है कि मन का अतिक्रमण कैसे हो? निश्चय ही आप मन का अतिक्रमण नहीं कर सकते। इसका एकमात्र उपाय आध्यात्मिक साधना है। महान योगियों ने सही कहा है "आप अपनी मन पसन्द साधना करते जाइये, और इस बात की चिन्ता न कीजिये कि मन क्या करता है।" हमारा लक्ष्य सुषुम्ना का जागरण है। यह

पृष्ठ ४८ का शेष—

❀ ध्यान–एक जीवन्त अनुभव ❀

हमारे अनुभवों का विस्फोट है । एकाएक हम अनुभव करते है कि हर वस्तु विस्तृत हो रही है; प्रकट तथा लोप हो रही है । जीवन में सर्वथा असाध्य लगने वाले मन का नियंत्रण पलक झपकते ही संभव हो जाता है । यथार्थ में ही हम मन को भूल जाते है ।

कृपया मन के साथ संघर्ष न करें, मन हमेशा चचंल रहता है क्योंकि उसका निर्माण ही तीन गुणों (सत, रज और तम) से हुआ है । अतएव चतुर्थ प्राणायाम का अभ्यास सर्वोत्तम है । और यदि इसके द्वारा सुषुम्ना जाग्रत होजाय तो साधक ध्यान योग में अनायास ही प्रविष्ट हो जाता है ।

महर्षि पंतजलि का राजयोग यह नहीं कहता कि साधक उनके द्वारा उल्लिखित ध्यान का ही अभ्यास करे । वे ध्यान के किसी भी अन्य प्रचलित अभ्यास की छूट देते है ।

ध्यान के अन्यान्य अभ्यासों के भी प्रयोग जैसे-चक्रों पर ध्यान, ध्वनि अथवा स्वरूप का ध्यान । नादयोग में गुंजन की ध्वनि पर ध्यान लगाकर शरीर की चेतना का लोप किया जाता है तथा मन से मुक्ति प्राप्त की जाती है यदि विधि पूर्वक भस्त्रिका प्राणायाम का अभ्यास किया जाय तो किसी भी प्रकार के ध्यान को सुगमता पूर्वक प्राप्त किया जा सकता है । ध्यान एक आध्यात्मिक घटना है जो शरीर में घटित होती है और उसकी विभिन्न प्रक्रियाओं को प्रभावित करती है ।

गहन ध्यान की अवस्था में मस्तिष्क में अल्फा तरंग उठती है । फलस्वरूप उच्च रक्त चाप घट जाता है । गहन ध्यान की अवस्था शरीर का आन्तरिक तापमान प्रभावित होता है जिसके फलस्वरूप पाचन क्रिया इतनी सशक्त नहीं रह जाती कि आप जो चाहें खायें और हजम कर लें । इस लिये ध्यान के लिये सरल एवं सुपाच्य भोजन के साथ कुछ विशिष्ट आसन सुझाये जाते है ताकि ऐसे उपद्रवों का शमन किया जा सके ।

ध्यान के आसनों में एक प्रचलित आसन पद्मासन है जो अभ्यस्त लोगों के लिये संभव नहीं है । दूसरा सिद्धासन है । इन दो आसनों में स्वाधिष्ठान तथा मूलाधार चक्रों पर दबाव पड़ता है जो रक्त चाप के अनियमित उतार चढ़ाव को नियमित करता है । अनेक साधक यही गलती करते है । वे कहते है कि ध्यान एक आध्यात्मिक तथा धार्मिक क्रिया है तथा तथा इसे किसी भी आसन से कर सकते हैं । ध्यान धार्मिक अभ्यास कतई नहीं है । यह शरीर, मन और चेतना के रूपान्तरण का सबल माध्यम है । यह एक वैज्ञानिक घटना है जो शरीर के भीतर घटित होती है । आप ईश्वर का स्मरण शरीर को किसी भी स्थिति में रख कर भले ही करें परन्तु ध्यान का अभ्यास वज्रासन, पद्मआसन अथवा सिद्ध-आसन (महिलाओं के लिये सिद्धयोनि आसन) में ही कर सकते हैं ।

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008 Feb. 1986

प्रेषक-कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER
Book–Post

श्री ....
....
....
....

कैवल्य अवस्था

जब बुद्धि से रजोगुण तमोगुण के मल नष्ट हो जाते हैं तब वह निर्मल बुद्धि पुरुषस्य निर्मलता के समान होजाती है, उस समय पुरुष को भोगों का अभाव हो जाता है और इसी अवस्था में कैवल्य प्राप्त होता है। कैवल्य प्राप्ति के अनन्तर पुरुष स्वतन्त्र हो जाता है क्योंकि ज्ञान से दर्शन अर्थात् विषय साधन निवृत्त से होने वाले क्लेशों की निवृत्ति होती है और उसके कर्म्म विपाकों का अभाव और कर्म्म विपाक के अभाव से दुर्गुणों का प्रादुर्भाव नहीं होता इसी अवस्था को कैवल्य कहते हैं।

—भगवान व्यास

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बराई कलाँ, शाहगंज, आगरा-१ फोन ६३२९८